रंग संवाद

सितंबर 2013

वनमाली सृजन पीठ (भोपाल) का
संवाद पत्र

प्रधान संपादक

संतोष चौबे

संपादक

विनय उपाध्याय
vinay.srujan@gmail.com

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता

शब्दांकन : मुकेश सेन

संपादकीय संपर्क :
वनमाली स्मृति सृजन पीठ,
22, E-7, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428
ई-मेल : vanmalisrijanpeeth@gmail.com

●●●

ज़रूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित। मुद्रक - पहले पहल प्रिंटरी, 25-ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

संपादकीय : परंपरा और आधुनिकता - संतोष चौबे / 3
प्रतिरोध का रंगमंच - राजाराम भादू / 16
स्मृतियों के लोकरंग - डॉ. सेवाराम त्रिपाठी / 18
जिसके पास जुनून नहीं, वो कलाबाज़ है, कलाकार नहीं
शेखर सेन से सुदीप सोहनी का संवाद / 23
रंगमंच : जुगाड़ तंत्र चालू आहे
अनिल रंजन भौमिक से यश मालवीय की बातचीत / 27
कोई रंगकर्मी फिल्मों में जाए हर्ज़ क्या है
गोपाल दुबे से विक्रांत भट्ट की मुलाकात / 29
कैसा हो भारत भवन का रंगमंडल - पंकज शुक्ला / 33
मनोरंजन क्षणिक होता है, भक्ति की लौ देर तक जलती है
शोभना नारायण से चित्रा शर्मा की वार्ता / 35
मोहिनी अट्टम की कनक - फोरम दलाल / 37
आलम से बाबा की कथा - प्रभा जैन / 38
संगीत साझा करने की कला है - कमला शंकर / 43
रस-प्राण गायक ज़िया फरीदुद्दीन डागर - रामप्रकाश त्रिपाठी / 44
भाई के वो सबक कभी भूला नहीं
ध्रुपद गुरु उ. फरीदुद्दीन डागर की जुबानी - विनय उपाध्याय / 45
आवाज़ का वो नमकीन जायका - राजीव श्रीवास्तव / 47
आबाद कर देता हूँ वीराना : स्मृति शेष बेनू गांगुली / 48
महक मल्हार की - राम मेश्राम / 49
बादल को टेरता मौसम - विनोद भारद्वाज / 52
नए प्रस्थान की आहट - संगम पाण्डेय / 54
नाट्यकला के नवरंग - विवेक मृदुल/ 55
संवाद की कमी से ठहर गया नाटक - प्रेम शंकर/ 58
कविता पुरुष का अंतरंग बहिरंग - राजेश गनोदवाले / 59
और शहर में दंगा होते-होते बचा - मोहन सगोरिया / 60
संगीत बन गया सारथी - ब्रज श्रीवास्तव / 61
कला के मनछूते मौसम - अरुण/ 62
बात पर बात सिनेमा की - राखी झँवर / 65
लुटेरा की नफासत - रामप्रकाश त्रिपाठी / 67
सृजन के आसपास : देश भर की सांस्कृतिक-साहित्यिक हलचल / 69
पाठक संवाद / 85
शेष-विशेष : नागेश के रुपाभ, चौखट में चेहरे - विनय उपाध्याय / 86

यादें... बातें...मुलाकातें

आकल्पन : विनय उपाध्याय ● **आवरण चित्र** : अमृतलाल वेगड़ ● **आवरण सज्जा** : वंदना श्रीवास्तव
● **भीतर के छायाचित्र** : विजय रोहतगी, प्रवीण दीक्षित, ताजनूर खान, अरुण जैन, अमीन अख्तर

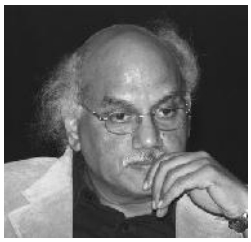

परंपरा और आधुनिकता

अभी हाल ही में मुझे 'परंपरा और आधुनिकता' विषय पर केंद्रित एक संगोष्ठी में भाग लेने का अवसर मिला. हमारे देश में यह बहस सदियों से चली आती है. स्वतंत्रता आंदोलन के लगभग सौ वर्षों के दौरान इसने और भी जोर पकड़ा. विदेशी आक्रांता के विरुद्ध लड़ाई के लिये भारतीय संस्कृति और अस्मिता की स्थापना, एक अत्यंत आवश्यक हथियार के रूप में सामने आई. इसी दौरान 'पूरब' तथा 'पश्चिम' के रूप में मूल्य विभाजन हुआ, फिर इन मूल्यों में टकराव और श्रेष्ठता की लड़ाई प्रारंभ हुई जिसमें बहुत दूरी तक भारतीय मनीषियों ने विजय प्राप्त की. पहले स्वामी विवेकानंद ने विचार के स्तर पर भारतीय मेधा की प्रस्तुति से पूरे विश्व को चमत्कृत किया फिर गांधी ने इसे प्रतिरोध का अस्त्र बनाया. श्री अरविंद ने 'फाउंडेशन ऑफ इंडियन कल्चर' में भारतीय संस्कृति के पक्ष में एक मजबूत दावेदारी पेश की और उस समय के लगभग सभी बुद्धिजीवियों ने भारतीय संस्कृति, इतिहास और परंपरा के अन्वेषण का गहन प्रयास किया. डॉ. राधाकृष्णन की किताब 'इंडियन फिलॉसफी' तथा हुमायूं कबीर की किताब 'इंडियन हेरीटेज' के नाम अनायास ही दिमाग में आते हैं. स्वामी दयानंद सरस्वती से लेकर महात्मा फुले तक, सारे सामाजिक आंदोलनों में भारतीयता की पुनः प्रतिष्ठा के प्रयास दिखते हैं.

लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दृश्य तेजी से बदला है और बहस आधुनिकता से होते हुये उत्तर आधुनिकता तक आ गई है. इतिहास और स्मृति से लेकर कला तक, सभी के अंत की घोषणा की जा रही है और इस तरह उन सभी नक्शों को हमारे स्मृति पटल से गायब करने का प्रयास है जिनके माध्यम से हम अपनी दिशा तलाश सकते थे. मैंने 'परंपरा और आधुनिकता' के सवाल को इसी पृष्ठ भूमि के आलोक में देखने का प्रयास किया है.

●

संपादकीय

विषय प्रवेश करते ही यह सुपरिचित सा दिखने वाला विषय कठिन लगने लगता है. परंपरा के नाम पर जो हमें सामने दिखता है वह है हमारी विभिन्न पूजा पद्धतियाँ, आचार-व्यवहार, वस्त्र-परिधान, बोली-बानी, व्रत-उपवास, शादी-विवाह तथा सामाजिक संगठन. इसी तरह आधुनिकता के नाम पर कई ऐसी चीज़ों को शामिल कर लिया जाता है जो उपरोक्त 'परंपरा' के विरुद्ध हों. जैसे अगर आप अ-धार्मिक हैं, पूजा या ईश्वर में विश्वास नहीं रखते, भारतीय परिधान के बदले पैंट-कमीज़ पहनते हैं, हिन्दी के बदले अंग्रेज़ी बोलते हैं तो आप आधुनिक हैं. पर क्या हमारी 'परंपरा और आधुनिकता' का सच कुल इतना ही है या इसकी गहरी जड़ें हमारे इतिहास और स्मृति में जाती हैं? और कला और साहित्य में इसका प्रतिबिंबन किस तरह होता है? 'इतिहास के अंत' की घोषणा के बावजूद मुझे लगता है कि अपनी परंपरा की सही पहचान के लिये हमें अपने इतिहास की सही पहचान होना आवश्यक है. मैं आगे चलकर यह दिखाने का प्रयास करूंगा कैसे चेतना इन 'ऐतिहासिक' प्रभावों को ग्रहण करती है और कैसे कला में उनका प्रतिबिंबन होता है. आइये सबसे पहले भारतीय इतिहास का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण कर लें.

●

अब यह पूरी तरह स्थापित है कि लगभग 3000 वर्ष ईसा पूर्व भारत में एक विकसित सभ्यता थी जिसे हम सिंधु घाटी की सभ्यता के नाम से जानते हैं. उत्तर-पश्चिम में मोहेन-जोदड़ो

और हड़प्पा से लेकर राजस्थान में जैसलमेर तथा गुजरात में लोथल तक, इस सभ्यता के प्रमाण मिलते हैं. यह सभ्यता अपने संगठन में शहरी थी, शिव एवं शक्ति की पूजक थी तथा मूलतः शांत प्रकृति की थी. ईसा के लगभग 2000 वर्ष पूर्व से आर्यों का आगमन प्रारंभ हुआ जो धीरे-धीरे अनेक समूहों में भारत आये. करीब 1500 से 1000 वर्ष ईसा पूर्व के बीच भारत में आर्यन सभ्यता का विकास हुआ. आर्य चरवाहा जाति के और गौ रक्षक थे, उनका समाज मूलतः ग्रामीण समाज था, वेद वे या तो साथ लेकर आये थे या यहीं उन्होंने उनकी रचना की पर वे वैदिक धर्म का पालन करते थे, उन्होंने तत्कालीन समाज में कार्य आधारित विभाजन किया जो आगे चलकर जातियों में विभक्त हुआ. पुनर्जन्म की अवधारणा इसी समय विकसित हुई. इन 1500 वर्षों के बीच पूरे भारत में आर्य संस्कृति का विस्तार हुआ, कृषि के साथ साथ व्यापार भी बढ़ा और उत्तर वैदिक साहित्य की रचना हुई. उस काल की स्मृति रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों में सुरक्षित है जो भारतीय परंपरा का निर्माण करते हैं और जिनके बिना भारतीय समाज विपन्न ही माना जायेगा. शिव और शक्ति की पूजा, वैदिक धर्म और साहित्य, पुनर्जन्म तथा जाति की अवधारणा, गौरक्षा और पूजा का विचार तथा रामायण और महाभारत की कथाएँ हमारी सामूहिक स्मृति तथा परंपरा का अनिवार्य हिस्सा हैं. यह कोई संयोग नहीं कि रामायण एवं महाभारत, दोनों के ही नायक - राम एवं कृष्ण, सांवले हैं.

आर्यों के आगमन के लगभग 1500 वर्षों के भीतर पूरे भारत में आर्य संस्कृति का विकास हुआ और ऐसा लगता है कि जाति प्रथा भी एक रुढ़ि के रूप में स्थापित हो गई. ईसा के लगभग 600 वर्ष पूर्व हम इस परंपरा से पहला विद्रोह बौद्ध और जैन धर्म के विकास के रूप में देखते हैं. दोनों ही जाति प्रथा के विरोधी थे. बौद्ध धर्म का जोर मध्यम मार्ग पर था जबकि जैन धर्म अहिंसा पर अत्यधिक बल देता था. (क्या आपको प्रतिरोध के अस्त्र के रूप में गांधी के अहिंसक आंदोलन की याद आई?) भारतीय इतिहास की एक निश्चित तिथि सिकंदर के आगमन से जुड़ी है जो 326 वर्ष ईसा पूर्व की है. हालांकि सिकंदर ने भारत में बहुत भीतर तक प्रवेश नहीं किया पर शायद यह पहला अवसर था जब पूर्व और पश्चिम की दो विकसित सभ्यताओं की आपस में मुलाकात हुई. कहते हैं कि सिकंदर के गुरु अरस्तु ने भारतीय दार्शनिकों से विमर्श की इच्छा जाहिर की थी और यहाँ से जाते समय वह अपने साथ कुछ भारतीय पंडितों को भी ले गया था. जो भी हो, सिकंदर के आगमन के बाद भारत वैसा नहीं रह गया जैसा कि वह था. ऊपरी आचार व्यवहार, खान-पान तथा वस्त्र परिधान में तो परिवर्तन आया ही, साथ ही राजनीतिक और सामाजिक संगठन में भी मूलभूत बदलाव हुये. सिकंदर के प्रस्थान के तत्काल बाद हम भारत में पहले साम्राज्य - चंद्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य का उदय देखते हैं जो अफगानिस्तान से बंगाल तक फैला हुआ था. चंद्रगुप्त के नाती अशोक ने साम्राज्य का विस्तार दक्षिण भारत तक किया और कलिंग की लड़ाई के बाद बौद्ध धर्म स्वीकार किया. मौर्य साम्राज्य में शासन का संचालन समितियों के माध्यम से किया जाता था, प्रशासन, कृषि, हस्तशिल्प और व्यापार में परिपक्वता आई थी, तथा साहित्य और कला, विशेषकर स्थापत्य में अभूतपूर्व प्रगति हुई थी. सम्राट अशोक के लौह स्तंभ आज भी अनेक स्थानों पर खड़े हैं और उस समय की तकनीक का पता देते हैं. तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक संगठन की झलक हमें मेगास्थनीज़ एवं चाणक्य रचित ग्रंथों में दिखाई देती है. भारत से प्रारंभ होकर बौद्ध धर्म बर्मा, चीन, जापान, श्रीलंका, अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया तक फैला और वहाँ सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में उसने महत्वपूर्ण योगदान दिया. यह सब ईसा के जन्म से पहले की बात है.

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद, भारत पर उसी उत्तर पश्चिमी दिशा से शक, कुषाण जैसे कबीलों के हमले हुये और ईसा के बाद 78 A.D. में कनिष्क के राज्य की स्थापना के अलावा यह पूरा प्रदेश अस्थिरता की गिरफ्त में ही रहा. ये आक्रमण कर्ता भले ही युद्ध कला एवं अपनी उग्रता में तत्कालीन भारतीय शासकों पर भारी पड़ते हों, जो मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद वैसे भी बिखराव के दौर से गुज़र रहे थे, पर सांस्कृतिक दृष्टि से वे कहीं पीछे थे और अंत में उन्होंने भारत में प्रचलित जाति व्यवस्था में ही प्रश्रय प्राप्त किया.

ईसा के बाद तीसरी चौथी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य के अभ्युदय को भारत का स्वर्णयुग भी कहा जाता है. शांति और व्यवस्था की स्थापना की दृष्टि से और कृषि तथा व्यापार में उत्थान की दृष्टि से यह भारत का स्वर्णयुग था भी. यही समय भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय का काल भी है. समुद्र गुप्त सम्राट होने के साथ साथ अच्छे संगीतज्ञ तथा साहित्यकार थे. कालिदास का रचनाकाल भी लगभग यही है. चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में साहित्य तथा विज्ञान में अभूतपूर्व प्रगति हुई. आर्यभट, चरक (कनिष्क के समकालीन) एवं सुश्रुत (बुद्ध के समकालीन) ने विज्ञान के व्यवस्थित अध्ययन की जिस परंपरा का सूत्रपात किया था वह भारतीय विज्ञान की परंपरा के रूप में अक्षुण्ण चली आती है. गुप्त साम्राज्य के शासक हिंदू धर्म के मानने वाले थे हालांकि बौद्ध धर्म अभी समाप्त नहीं हुआ था. चीनी यात्री फा हियान ने इसका बड़ा रोचक विवरण अपने यात्रा वृत्तांत में दिया है. गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद भारत में एक बार फिर अस्थिरता फैली जिसे 6वीं/7वीं शताब्दी के आते-आते उत्तर में हर्षवर्धन ने तथा दक्षिण में पुलकेशिन के साम्राज्य ने स्थिरता प्रदान की. चीनी यात्री व्हेन सांग हर्षवर्धन के काल में ही आये थे और उनका भी यात्रा वृत्तांत उपलब्ध है. वे बताते हैं कि हर्ष के काल में कानून और व्यवस्था की स्थिति अच्छी थी और हिन्दू तथा बौद्ध धर्म का प्रभाव कमोबेश देश के अलग-अलग हिस्सों में था.

लगभग 4000 वर्षों के संक्षिप्त इतिहास के उपरोक्त विवरण से कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं. एक, हर्षवर्धन के समय तक आते-आते पूरा देश आर्यन संस्कृति के प्रभाव में आ चुका था, जिसकी साझा सांस्कृतिक विरासत थी. बार-बार देश को एक करने के प्रयास होते थे, साम्राज्य स्थापित भी हुये थे पर प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण न होने, संचार की मजबूत व्यवस्था न होने एवं उत्तर पश्चिम से होने वाले आक्रमणों के कारण बार-बार ये साम्राज्य छिन्न-भिन्न भी होते थे. बाहर से आने वाले समूहों ने भारत को सांस्कृतिक और बौद्धिक रूप से उन्नत पाया था और अपने आपको कार्य विभाजन के अनुसार किसी न किसी जाति में व्यवस्थित कर लिया था. हालांकि जाति व्यवस्था थी, पर उसका विरोध भी था.

●

भारत में मुसलमानों के आगमन को, अरब से सिंध में मुसलमानों के आगमन से जोड़कर देखा जाता है जो लगभग आठवीं-नवीं शताब्दी के बीच हुआ पर वास्तव में वे करीब 100 वर्ष पूर्व ही कालीकट में आ चुके थे. केरल में उनकी धार्मिक गतिविधियाँ इस बीच प्रारंभ हुईं. लगभग इसी समय में शंकराचार्य ने हिंदू धर्म के देश व्यापी प्रभाव को बढ़ाने के लिये देश भर की यात्रा की, चारों कोनों में मठ स्थापित किये और अद्वैतवाद का प्रचार किया. एक मत के अनुसार शंकर का अद्वैतवाद इस्लाम के एकेश्वरवाद की प्रतिक्रिया में ही इतने शक्तिशाली रूप से उभरा.

गज़नी के सुल्तान महमूद ने इस बीच अपने आक्रमणों को बढ़ाया और अब तक उभर चुकी राजपूत शक्ति से उसका लगातार टकराव हुआ. हालांकि सुल्तान महमूद यहाँ रुका नहीं और लूटपाट के बाद वापस गज़नी जाता रहा. भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के प्रथम प्रयास सल्तनत काल में हुये जिसकी शुरुआत 1206 A.D. से मानी जाती है. शहाबुद्दीन द्वारा प्रारंभ किये इस वंश में आगे चलकर कुतुबुद्दीन और अलाउद्दीन हुये, जिन्होंने राज्य व्यवस्था में मूलभूत बदलाव किये. देश के ऊपरी सतह पर मुस्लिम प्रभाव बढ़ा लेकिन ग्रामीण भारत बहुत दूरी तक इससे अछूता ही रहा. शहरी क्षेत्रों में मुस्लिम जनसंख्या में बढ़ोतरी हुई जो आवश्यकता पड़ने पर शासक का साथ देती थी. 1526 से 1857 के स्वतंत्रता संग्राम तक दिल्ली की गद्दी पर मुग़लों का शासन रहा जो 1707 में औरंगज़ेब के निधन के बाद लगातार कमज़ोर होता चला गया था. बाबर के बाद थोड़े समय के लिये शेरशाह सूरी ने भी अपनी चमक दिखाई हालांकि जल्दी ही उनका निधन हो गया.

आधुनिक भारत के कई मूल आधार सम्राट अकबर के शासन काल में खोजे जा सकते हैं. प्रशासन व्यवस्था एवं भूमि कर के प्रावधान, समाज के सभी धार्मिक समूहों के साथ बराबरी का

व्यवहार, राजपूत तथा अन्य समूहों को सत्ता में शामिल करना और विश्वास के आधार पर प्रशासन जैसे कई गुण अकबर के साम्राज्य में थे. इस्लाम ने जब हमारे देश में प्रवेश किया तब वह बिल्कुल अलग सा दिखने वाला विजातीय धर्म था पर एक हज़ार वर्षों के टकराव ने उसे भी समन्वय की ओर प्रवृत्त किया तथा कला, संगीत और स्थापत्य में इसके व्यापक प्रभाव पड़े जिनका मैं आगे जिक्र करूंगा. वे आज भी हमारी आधुनिकता का हिस्सा हैं.

मुगलों के पतन का एक बड़ा कारण मराठा शक्ति का उदय था. उन्होंने बार-बार औरंगज़ेब और उनके बाद के मुग़ल सम्राटों को कड़ी टक्कर दी. शिवाजी और उनके बाद के मराठा राजाओं ने दक्षिण एवं मध्य भारत में एक बड़े साम्राज्य की स्थापना में सफलता हासिल की पर अंत में न मराठा जीत पाये (पानीपत की तीसरी लड़ाई) और न मुग़ल हार पाये और गतिरोध की इस अवस्था ने, नवागत यूरोपियन ताकतों को सांस लेने की जगह प्रदान की जहाँ से धीरे-धीरे कर उन्होंने भारत में अपने पैर पसारे.

मुग़ल काल की एक बड़ी घटना भारत में भक्ति आंदोलन का प्रादुर्भाव था जिसमें उत्तर से लेकर दक्षिण तक तथा पूरब से लेकर पश्चिम तक अनेक संत कवियों ने हिस्सा लिया. नानक, तुलसीदास, दादू, कबीर, मीरा, नामदेव, तुकाराम, रैदास, चैतन्य जैसे कितने ही चमकते नाम हैं जिन्होंने भक्ति काव्य की रचना की, उसे संगीत दिया और भाषा को समृद्ध बनाया. मुसलमानों के आने के पहले लोक की भाषा प्राकृत और पाली थी और बौद्ध तथा जैन धर्म की अधिकतर रचनाएँ इन्हीं भाषाओं में मिलती हैं. साहित्य की भाषा संस्कृत चली आती थी. पर मुसलमानों के आगमन के साथ साथ फारसी का भी आगमन हुआ. प्राकृत और पाली ने धीरे-धीरे अन्य भाषाओं, विशेषकर ब्रज भाषा के लिये स्थान छोड़ा. राजकाज की भाषा फारसी बनी. भक्ति आंदोलन के पहले और बाद में ब्रज भाषा का अभूतपूर्व विकास हुआ. यह इससे भी स्पष्ट है कि भारतेंदु युग तक ब्रजभाषा को 'भाषा' कहा जाता था और हिन्दी को 'खड़ी बोली'.

●

वास्कोडिगामा सन् 1498 में कालीकट पहुंचा था. वह मूलतः एक खोजी था जो भारत की संपन्नता की कहानियों से आकर्षित होकर, व्यापार के नये रास्तों की तलाश में भारत पहुंचा था. यूरोपियन ताकतों का भारत में आगमन 17वीं एवं 18वीं शताब्दी की घटना है. पहले आये पुर्तगालियों एवं डच लोगों ने साम्राज्य स्थापित करने की कोशिश की थी पर वे छोटे-छोटे सेटलमेंट बनाने के अलावा ज्यादा कुछ नहीं कर पाये. 17वीं शताब्दी के अंत तक वैसे भी मुगल साम्राज्य एक ताकतवर साम्राज्य था और उसकी कृपाप्राप्ति के बाद ही कोई दूसरी ताकत भारत में प्रवेश कर सकती थी. डच आगे चलकर ईस्ट इंडीज़ यानी मलेशिया की ओर चले गये और पुर्तगाली अपनी धार्मिक कट्टरता के कारण छोटे सेटलमेंट तक ही सीमित रहे.

सत्रहवीं शताब्दी के अंत और अठारहवीं के प्रारंभ में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत की ओर रुख किया. भारत के पश्चिमी भाग में मराठा शक्ति तथा उत्तर में मुग़ल अपनी पूरी ताक़त के साथ उपस्थित थे. ब्रिटिश ज़मीनी रास्तों से नहीं समुद्री रास्तों से आये थे. पहले पहल उन्होंने कलकत्ता एवं पूर्व में अपने आपको स्थापित किया. जब वे भारत आये तब अपनी समृद्धि में भारत यूरोप से कहीं आगे था. वे व्यापारी के रूप में भारत आये थे और बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के दीवानी अधिकार उन्हें मुग़ल सम्राट से ही प्राप्त हुये थे. 1761 में पानीपत की तीसरी लड़ाई ने मुग़लों और मराठों के बीच एक ऐसा शक्ति संतुलन पैदा किया जिसने राष्ट्रीय साम्राज्य को असंभव बना दिया. हैदराबाद में निज़ाम और मैसूर में हैदरअली कायम थे. इस बीच ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत के पूर्वी राज्यों में अपने आप को मजबूती से स्थापित कर लिया. इन राज्यों पर मुग़लों का आधिपत्य नाम मात्र का रह गया और कंपनी ही वास्तविक शासक बन बैठी. धीरे-धीरे उन्होंने बंगाल, फिर मैसूर और फिर पुणे को अपने नियंत्रण में लिया और इस तरह देश का अधिकांश हिस्सा उनके नियंत्रण में आ गया.

पर अपने अंतिम चरित्र में कंपनी शासक नहीं व्यापारी थी. उसने अपने नियंत्रण में आये हिस्सों में भारी लूट खसोट मचाई. हेस्टिंग्स, कॉर्नवॉलिस और डलहौज़ी ने नये-नये तरीकों से प्राकृतिक

संसाधनों के दोहन, भारतीय काम धंधों के दमन तथा कंपनी के इलाकों का विस्तार जारी रखा और भारत का आर्थिक विकास अवरुद्ध हो गया. हमारी कृषि और काम धंधों पर गहरा प्रभाव पड़ा और जो भारत, अकबर के समय में विश्व के सर्वाधिक समृद्ध देशों में से था वह विपन्नता के कगार पर आ गया. हालांकि ब्रिटिश सरकार ने अपनी पार्लियामेंट में पास किये गये अनेक अधिनियमों के माध्यम से कंपनी पर नियंत्रण की कोशिश की पर वह नियंत्रण नाम मात्र का ही था और कंपनी पूरी स्वतंत्रता के साथ भारत का दोहन कर रही थी.

अंततः 1857 में कंपनी के शासन के विरुद्ध विद्रोह हुआ जिसे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के नाम से जाना जाता है. यह विद्रोह मूलतः उत्तर तथा पूर्वी भारत में हुआ पर इसे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम ही माना जाता है. यह विद्रोह कंपनी के शासन के विरुद्ध, उसकी नीतियों के विरुद्ध एवं भारतीयता के पक्ष में था. स्थानीय शासकों तथा अंग्रेजों द्वारा प्रशिक्षित भारतीय सैनिकों ने इसे अंजाम दिया था और हालांकि यह अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हुआ, इसने ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन को समाप्त कर दिया. अब ब्रिटिश सरकार ने सीधे भारत का नियंत्रण अपने हाथ में लिया और नई व्यवस्था कायम की.

1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद देश फिर वैसा नहीं रहा जैसा कि वह था। मुग़लों की सत्ता का औपचारिक रूप से अंत हो गया, और ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत को अपना उपनिवेश बना लिया. लेकिन इसके साथ ही स्वतंत्रता को लेकर जो चेतना भारतीयों के मन में उत्पन्न हुई, उसने नये नये रूपों में प्रतिरोध को संगठित करना प्रारंभ किया. उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे भाग में शिक्षा और नवजागरण के अभूतपूर्व प्रयास भारत में प्रारंभ हुये. ज्योतिबा फुले ने जहाँ महाराष्ट्र में दलितों और स्त्रियों की शिक्षा को लेकर चेतना जाग्रत की वहीं देश के तीन बड़े शहरों कलकत्ता, बंबई और मद्रास में शिक्षा के केंद्र बनाये गये. बनारस में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय एवं अलीगढ़ में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी की स्थापना पूरी तरह देशी प्रयास थे. नवें दशक में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के साथ (हालांकि वह ए.ओ. ह्यूम नायक अंग्रेज़ के द्वारा प्रारंभ की गई थी जिसके आसपास उस समय के प्रबुद्ध भारतीयों ने एकत्र होना शुरु किया), पहले नरम और फिर गरम तरीकों से ब्रिटिश राज का विरोध प्रारंभ हुआ.

यही समय भारतेंदु एवं हिन्दी भाषा के प्रारंभ का काल है जिसमें आधुनिक हिन्दी ने अपना स्वरूप ग्रहण करना प्रारंभ किया, जिसे आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने वैज्ञानिक आधार प्रदान किया. साहित्य सृजन की भाषा के लिये ब्रज एवं उभरती हिन्दी भाषा का संघर्ष सर्वविदित है. पहले इस बात पर सहमति बनती दिख रही थी कि काव्य सृजन की भाषा के रूप में ब्रज भाषा का तथा गद्य के लिये हिन्दी का प्रयोग किया जाये लेकिन अंत में हिन्दी को ही मान्यता मिली. बीसवीं सदी के प्रारंभ से हिन्दी में व्यापक सृजन प्रारंभ हुआ जो अब नये नये रूपों और विधाओं में हमारे सामने है. यहाँ से हम प्रतिरोध की उस व्यापक पृष्ठभूमि तक पहुंचते हैं जिसका जिक्र इस लेख के शुरु में किया गया है.

सन् 1700 से लेकर 1857 तक तथा 1857 से लेकर 1947 तक के लगभग 250 वर्षों में अंग्रेज़ों के भारत पर प्रभाव की विषद विवेचना की गई है इस विवेचना के भी दो पक्ष हैं. पहला पक्ष धनात्मक है. अंग्रेज़ जब भारत आये तो वे यूरोपीय नवजागरण से उत्पन्न नये विज्ञान एवं तकनीक, वैज्ञानिकता और राष्ट्रीयता के नये मूल्यों से सन्नद्ध थे. उनका भारत में, भारतीय संस्कृति में विलय नहीं हुआ. वे इससे इतने अलग थे और अपनी उच्चता के दर्प में इतने ज्यादा डूबे थे कि ऐसा हो भी नहीं सकता था. पर भारत में रेल्वे का विस्तार, टेलीकम्यूनिकेशन एवं डाक व्यवस्था की स्थापना, सेना एवं प्रशासन का आधुनिकीकरण और राजाओं तथा सामंतों पर सीमित नियंत्रण जैसे कई काम उन्होंने किये जिससे आगे चलकर भारतीय राष्ट्र के उदय में मदद मिली. इनमें से कई कार्य उन्होंने अपनी सत्ता को मजबूत करने और भारतीय संसाधनों का दोहन करने के लिये किये थे, लेकिन विज्ञान और तकनीक का एक स्वायत्त स्वरूप भी होता है जो चेतना के स्तर पर कार्य करता है और जिसने हमें निश्चित ही प्रभावित किया.

मैकॉले द्वारा अंग्रेजी भाषा में शिक्षा देने की नीति और प्रयासों को अब व्यापक रूप से समझा गया है. उस पर पूरे देश में इतनी चर्चा और बहस की गई है कि उसके लगभग सारे पक्ष अब हमारे सामने हैं. अपनी पुस्तक 'भारतीयता की ओर' में पवन कुमार वर्मा ने इसका विस्तृत विवरण दिया है. मैकॉले

के असल उद्देश्यों का ज़िक्र करते हुये वे कहते हैं कि मैकॉले का मानना था कि 'हमें अभी ऐसा वर्ग बनाना है जो कि अंग्रेज़ों और भारत की करोड़ों जनता के बीच संवाद का काम करे. वे लोग रंग और रक्त से हिंदुस्तानी होंगे. यह तबका वक्त के साथ हमारे ज्ञान को देश में फैलाने का माध्यम होगा.' इस शिक्षा ने भारतीय युवाओं को अपने काम धंधों से अलग कर बाबुओं में बदल दिया. नौकरियाँ सीमित थीं इससे प्रतिस्पर्धा बढ़ी और बेरोजगारी भी. सबसे बड़ी बात ये कि भारतीयों का अपने ज्ञान की परंपराओं से विमुख होना शुरू हुआ. स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान इस प्रक्रिया का गहन अध्ययन और विरोध हुआ हालांकि इसमें बहुत बदलाव नहीं लाया जा सका.

इतिहास के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से हमारी परंपरा की चार प्रमुख अंतर्धाराऐं पहचानी जा सकती हैं. एक, पूर्व में स्थापित द्रविड़ संस्कृति का आर्यों के आगमन के बाद धीरे-धीरे आर्यन संस्कृति में विलय और आर्यन संस्कृति का पूरे देश में विस्तार, दो, बौद्ध एवं जैन धर्मों द्वारा रुढ़ हो चुकी जातिप्रथा एवं कुरीतियों का विरोध और भारतीय संस्कृति का पूर्व तथा मध्य एशिया तक विस्तार, तीन, इस्लाम का आगमन, उसका तत्कालीन भारतीय संस्कृति से टकराव एवं नई सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का उदय तथा चार, ब्रिटिश राज की स्थापना, क्रिश्चियनिटी का प्रवेश, विज्ञान, तकनीक तथा वैज्ञानिक चिंतन का विस्तार, भारत का स्वतंत्रता आंदोलन, भारत की स्वतंत्रता और उससे प्राप्त नवजागरण के मूल्य.

आइये देखें कि हमारी इस ऐतिहासिक विरासत के बारे में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का क्या अभिमत है.

●

''बौद्ध धर्म इसी देश में उत्पन्न हुआ था. वह यहाँ की परिस्थितियों की उपज भी था और इन्हीं परिस्थितियों को बदलने का प्रयास भी. धीरे-धीरे वह समन्वयवादी भारतीय संस्कृति में घुल मिल गया. पर इस्लाम बाहर पैदा हुआ था. उसमें ऐसे प्रबल विजातीय तत्व थे, जिनको आत्मसात करना कठिन था. हिन्दू नाम भी इसी समय प्रचलित हुआ. जो कुछ इस्लाम के दायरे में नहीं आ पाया, उसे एक सामान्य पद 'हिन्दू' द्वारा अभिहित करने का प्रयास किया गया. हिंदुओं की अपने आप में सिमटने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी. जाति पांति की जटिल व्यवस्था में छूत छात की विकट मर्यादा का प्रभाव बढ़ता गया. इस्लाम का द्वार सबके लिये खुला था, पर इससे बचने और अपनी कुलीनता की रक्षा करने की होड़ भी इतनी ही व्यापक रूप में फैली. हिन्दू जनसमूह में अपनी पवित्रता और कुलीनता को बचा रखने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी. वह अधिकाधिक सिमटता गया. जाति के भीतर जाति की सृष्टि और छूत छात की मर्यादा के भीतर मर्यादा की प्रक्रिया उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी.

अनेक संतों, भक्तों और फकीरों ने इस विषम व्यवस्था का प्रतिवाद किया और हिन्दू-मुसलमान के मिलन का क्षेत्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया. अठारहवीं शताब्दी तक यह प्रयास कुछ सफलता की ओर बढ़ता दिखायी दिया. इसी बीच एक और प्रबल झटका लगा. यह प्रथम दोनों से कहीं अधिक शक्तिशाली था. इस बार यह समुद्र पार के देशों से आया. यह केवल धर्म और समाज के क्षेत्र में ही शक्तिशाली प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाला नहीं था. धर्म की दृष्टि से वह हिंदू-मुसलमानों से भिन्न था. पर केवल ईसाई कहने से उसका ठीक परिचय नहीं दिया जा सकता. वह राष्ट्रीयता और वैज्ञानिक नवचेतना से समृद्ध था और मानवीय संवेदना की नयी चेतना से भी प्राणवंत था. इस देश के लिये वह एकदम अपरिचित भावनाओं का संदेश लेकर आया था. यह बड़ा झटका सिद्ध हुआ. यद्यपि इसे कभी ईसाई धर्म और कभी पश्चिमी सभ्यता कहा गया है पर था वह अधिक व्यापक, यह आखिरी झटका उस नयी शक्ति के साथ पुरानी मान्यताओं की टक्कर का था, जो विज्ञान के प्रादुर्भाव से उत्पन्न हुई थीं. संयोग से यह पश्चिमी देशों में पहले पहल प्रगट हुई इसलिये इसे कभी-कभी इसे यूरोपीय सभ्यता और पाश्चात्य कह दिया जाता है और कभी कभी इसलिये ईसाई प्रभाव मान लिया जाता है कि जिन लोगों

की उंगली पकड़कर यह महाशक्ति इस देश में आई, वे ईसाई धर्म के मानने वाले थे. अंग्रेजों के साथ हमारे घनिष्ठ संपर्क के माध्यम से इस नयी शक्ति के प्रवेश के कारण यह अंग्रेजी प्रभाव भी समझा जाता है. परंतु, यह सिर्फ एक जाति के साथ दूसरी जाति का मिलन मात्र या आदान मात्र नहीं था. यह एक युग से दूसरे युग में संक्रमण का शुभारंभ था. जब तक हम इसके वास्तविक रूप को नहीं समझते, तब तक हम अपने देश और अपने युग पर हुई उस मानव प्रतिक्रिया का स्वरूप भी नहीं समझ सकेंगे, और आधुनिक चित्त को उसके नये परिप्रेक्ष्य में भी नहीं समझ सकेंगे. अंग्रेजों के साथ हमारे संपर्क की कहानी बहुत सुखपूर्वक स्मरण करने योग्य नहीं है. हम राजनीतिक रूप से उनके अधीन थे, इसलिये इस नयी भावधारा के प्रति हमारी आरंभिक प्रतिक्रिया विरोध के रूप में प्रकट हुई. यहाँ के मनीषियों को अपनी महिमामयी संस्कृति के समूल नष्ट होने का भय बना रहा. उसे 'पाश्चात्य प्रभाव' से बचा रखना, उन दिनों हमारी स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी. उन्हीं दिनों 'पूरब' और 'पश्चिम' के कृत्रिम भेदों की कल्पना की गयी. हर बात को यह कहकर समझने-समझाने की प्रक्रिया तेजी से चल पड़ी कि 'हमारे यहाँ' या 'भारतीय संस्कृति में' किस बात को कैसे कहा गया है. प्रायः 'हमारे यहाँ' के ब्रह्मास्त्रके प्रयोग से हर नये विचार को ध्वस्त कर देने का प्रयास दिखाई देता है.

यूरोप में सोलहवीं शताब्दी से ही नयी शक्ति के प्रादुर्भाव की भूमिका तैयार होने लगी थी. उस समय, हमारे देश की भांति ही यूरोप में भी धर्म का प्रमुख स्थान था. धर्म का रूप कुछ भिन्न अवश्य था. कला और साहित्य के, अर्थात् सौंदर्य बोध के क्षेत्रों की हर बात का धर्म विरुद्ध होना कल्पनाधिक परिमाण में स्वीकृत सत्य था. विज्ञान इनके प्रतिद्वंद्वी के रूप में प्रकट हुआ था. अठारहवीं शताब्दी तक उसकी प्रतिद्वंद्विता की शक्ति का ठीक ठीक अंदाजा वहाँ भी नहीं लगाया जा सका था. परंतु बाद में वह विषम प्रतिद्वंद्वी के रूप में आविर्भूत हुआ. इस समय यूरोप के सुसंस्कृत व्यक्तियों के चित्त पर इसका प्रभाव पड़ा. उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते नाना ऐतिहासिक दबावों के कारण यह शक्ति (विज्ञान) सुविधा प्राप्त वर्गों के हाथ से खिसककर साधारण जनता के हाथ में आ गयी और अत्यंत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक परिवर्तनों और विचारगत उथल पुथल का कारण बनी. इन्हीं दिनों समस्त जागतिक व्यापारों, मानवीय विचारों और आचरणों में व्यापक नियम और सामंजस्य खोजने की दुर्दम जिज्ञासा का जन्म हुआ. अंततोगत्वा डार्विन ने जीव विज्ञान के क्षेत्र में विकासवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, जो सच्चे अर्थों में आधुनिकता की नींव कहा जा सकता है. इसने हर क्षेत्र में मनुष्य को,देखने की नयी दृष्टि दी. डार्विन के विचारों से सूत्र पाकर स्पेंसर ने समस्त जागतिक क्रिया कलापों में विकासवादी दृष्टि को प्रतिष्ठित करने वाले तत्व दर्शन का प्रतिपादन किया और विज्ञान ने मनुष्य की संपूर्ण चिंताधारा पर अधिकार जमाया.

आज शायद ही कोई ऐसी विचारधारा हो धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान जिसे इस विकासवादी चिंतन के आलोक में न देखा-परखा जाता हो. हमारे देश के साहित्य और तत्व दर्शन का भी इससे अध्ययन किया गया है और अधिकाधिक सावधानी से निरंतर किया जा रहा है. आज का सुशिक्षित और सुसंस्कृत भारतीय यह निश्चित रूप से विश्वास करने लगा है कि सब कुछ क्रमशः विकसित हुआ है- वैदिक साहित्य भी, दार्शनिक विचार भी, धार्मिक आचार भी, साहित्यिक मीमांसाऐं भी. सब कुछ धीरे-धीरे विकसित हुआ है, सबमें पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती विचारों का योग है. यह नया विश्वास पश्चिम से आने पर भी पाश्चात्य प्रभाव नहीं है. यह मनुष्य के नये युग में संक्रमण की सूचना मात्र है.''

●

भारत पर इस्लामिक संस्कृति के प्रभाव और ईसाइयत तथा यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव में मूलभूत अंतर हैं. इस्लाम के अनुयायियों ने, जो लगभग 800-900 A.D. के बीच भारत आना प्रारंभ हो चुके थे, भारत में ही बसना तय किया. पहले पहल उन्होंने अपनी विजातीयता बनाये रखी और उस समय की विकसित भारतीय संस्कृति से उनका टकराव भी हुआ, पर लंबे समय की अंतर्क्रिया एवं निकटता ने धीरे-धीरे एक समन्वित संस्कृति को विकसित किया जिसने कला, संगीत, स्थापत्य तथा भाषा साहित्य के स्तर पर नये रूप रचे. पर अंग्रेज़ों ने भारत में रहना तय नहीं किया था. वे पहले भारत में व्यापार करने आये थे और उसे उपनिवेश बनाने के बाद उसके प्राकृतिक संसाधनों का दोहन तथा उसका बाज़ार के रूप में इस्तेमाल उनका प्रमुख उद्देश्य था. भारत की कला और संस्कृति ने उन्हें कभी प्रभावित नहीं किया (कुछ अपवादों को छोड़कर) और वे अपनी उच्चता के दर्प में ही डूबे रहे. इस तरह उनकी ओर से समन्वय के नहीं सब्जुगेशन के ही प्रयास हुये. वैज्ञानिकता और आधुनिक युग का ज़िक्र हमने ऊपर किया है, वह भारत में अंग्रेज़ों के न आने के बावजूद भी आता पर तब स्वाधीन भारत उसमें अपनी चयन दृष्टि को शामिल करता और उसका विकास अलग तरह से होता. पराधीनता के कारण यह चयन दृष्टि उसके हाथ से जाती रही और शासकों ने हमारे लिये विकल्पों के चुनाव करना शुरू किया जिससे हमारा स्वतंत्र विकास रुक गया. हमारे आधुनिकता बोध में इस दृष्टि का शामिल होना ज़रूरी है जो विश्व को समझने में हमारी मदद करेगा. समन्वय और विरोध की इस प्रक्रिया को समझने के लिये. अब हम कला, संगीत और स्थापत्य के जगत से कुछ उदाहरण लेते हैं.

आधुनिक भारतीय (शास्त्रीय) संगीत के केंद्र में राग है, जिसके वर्तमान स्वरूप में उसे आलाप, जोड़, गत और झाला - इन चार अंगों में बजाया जाता है. गाते समय आलाप के बाद बड़े और छोटे ख्याल गाये जाते हैं. पर ये स्ट्रक्चर सदा से ही ऐसा नहीं था. भारत में मंदिरों में ध्रुपद गायन की परंपरा थी और संगीत का मूल आधार ईश्वर भक्ति तथा कीर्तन था. श्री वल्लभाचार्य और अष्टछाप के कवियों ने अपने पदों तथा संगीत रचनाओं द्वारा वर्ष 1500 से 1600 के बीच जिस आधुनिक शास्त्रीयता की शुरुआत की उसके मूल में ईश्वर भक्ति और आराधना थी. पुष्टिमार्ग की भक्ति में अष्ट याम पूजा प्रचलित थी जिसमें सुबह से लेकर रात्रि तक अलग अलग प्रहर में, ईश्वर (मूलतः कृष्ण) की सेवा का प्रावधान था. अलग अलग प्रहरों में समय के अनुरूप अलग-अलग राग गाये जाते थे जो कीर्तन के रूप में होते थे. जैसे सुबह के श्रृंगार के समय राग बिलावल, श्रृंगार आरती के समय राग आसावरी, दिन के दूसरे प्रहर में भोग के समय राग झिंझोटी, संध्या आरती के समय यमन कल्याण आदि. त्यौहारों के अवसर पर होली तथा रसिया आदि गाने की परंपरा थी जो स्वयं किसी न किसी राग में निबद्ध होते थे. कुल मिलाकर भक्ति के बिना शास्त्रीय संगीत की कल्पना असंभव थी जिसका आधुनिक प्रमाण हमें भारत रत्न बिस्मिल्लाह खान में मिलता है.

इस्लाम ने इस शास्त्रीयता को तीन तरह से प्रभावित किया. इस्लाम मूलतः भौतिकवादी था और उसने् भक्ति के साथ साथ श्रृंगार रस की रचनाओं को प्रधानता दी. मंदिरों से बाहर आने पर शास्त्रीय गायन में खयाल गायकी का प्रचलन बढ़ा और रागों को खयाल के रूप में गाया जाने लगा. दूसरे सूफी दर्शन में संसार की समाप्ति की परिकल्पना है, जो भारी 'एक्सटेसी' के साथ प्रगट की जाती है. बड़े खयाल धीर-गंभीरता के साथ गाये जाते हैं (अमीर खाँ), पर रागों का अंत तीव्र गति या 'झाला' के साथ करने की परंपरा चल पड़ी जो सूफी दर्शन के प्रभाव के कारण है. क्योंकि दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत उपरोक्त के बावजूद भी मूलतः मंदिर केंद्रित एवं भक्ति केंद्रित रहा, उसका स्वरूप अलग तरह से उभरा जबकि उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत या हिन्दुस्तानी संगीत, अपने रागों और स्वभाव में बिल्कुल अलग तरह से विकसित हुआ.

रागों के संदर्भ में 'ध्यान' की भी परिकल्पना है. 'ध्यान' रागिनियों का वह चित्र है जो गाते समय या राग का ध्यान करते समय आपके दिमाग़ में उभर सकता है और राग के मूल भाव को प्रगट करता है. इस तरह प्रत्येक राग के लिये एक चित्र बनाने की भी परंपरा है जिसने आगे चलकर पेंटिंग की अलग शैली को जन्म दिया. मुसलमानों के आगमन के पहले भारतीय चित्रकला में मानव समूहों और जीवन की सामूहिक गतिविधियों पर जोर था और कैनवास पर (वह गुफाओं और चट्टानों से लेकर किसी

भी मटेरियल का हो सकता था) सामाजिक जीवन का भरा पूरा पन था. पर मुसलमानों, विशेषकर मुग़लों के बाद पोर्ट्रेट का ज़ोर चल पड़ा और स्वप्निल तरलता या छाया छवियों के बदले ठोस तथा शार्प लाइन पेंटिंग में प्रमुखता से उभरी. रंगों के चुनाव में भी एक तरह की प्लास्टिसिटी या घनत्व हमें दिखाई पड़ता है.

इसी तरह की विवेचना भारतीय स्थापत्य के बारे में भी की जा सकती है. आप दक्षिण भारत के मंदिरों को देखिये. वहाँ लाइन डॉमिनेट करती है. मंदिर के शिखर लाइन पर आधारित हैं. 'कर्व' या 'आर्च' या गुंबद पर नहीं. बाहरी दीवारों पर जीवन के, देवी, देवताओं के असंख्य चित्र लेकिन भीतर एक अंधेरा, छोटा सा गर्भग्रह जहाँ व्यक्ति को अकेले ही आत्मा से, ईश्वर से साक्षात्कार करना होता है. वहीं उत्तर भारत के पिछले हज़ार वर्षों के स्थापत्य में आपको 'कर्व' और 'आर्च' डॉमिनेट करते दिखते हैं यहाँ तक कि मंदिरों का स्थापत्य भी वह नहीं है जैसा दक्षिण में है. यह इस्लामिक स्थापत्य के प्रभाव के कारण ही है. वहीं इस्लामिक इमारतों में भी हिन्दू 'मोटिफ', जैसे कमल, का बहुतायत से प्रयोग दिखता है. (ताजमहल).

भाषा के विकास का ज़िक्र पहले किया जा चुका है. जहाँ मुसलमानों के आगमन के पहले जन की भाषा प्राकृत और पाली थी और साहित्य की भाषा संस्कृत, वहीं उनके आगमन के साथ साथ प्रशासन की भाषा फारसी थी और मुस्लिम साहित्यकारों की रचनाऐं भी फारसी में ही हुई. जनभाषा ने विकास करते हुये ब्रज भाषा का स्वरूप ग्रहण किया जिसमें लगभग चार सौ से पांच सौ वर्ष विपुल साहित्य, विशेषकर काव्य साहित्य की रचना हुई. भाषाओं के बीच हुई अंतर्क्रिया ने दो नई भाषाओं हिन्दी और उर्दू को जन्म दिया जो आज भारत की मानक भाषायें हैं.

लेकिन समन्वय के इस तरह के उदाहरण अंग्रेज़, अंग्रेज़ी और ईसाइयत के संदर्भ में कम ही मिलते हैं. यूरोपीय सभ्यता के प्रति प्रारंभिक आकर्षण (राजा राममोहन रॉय) के बावजूद भारतीय मनीषियों ने स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान उसके प्रति टकराव का रुख ही अपनाया. 'भारतीयता की ओर' में 1921 के गांधी के विचारों को उद्धृत करते हुये पवन वर्मा कहते हैं :

''मेरे विचार से जिस तरह से अंग्रेज़ी की शिक्षा दी गई है, उसने अंग्रेजी पढ़े-लिखे को नपुंसक बना दिया है। इसने भारतीय छात्रों पर जबरदस्त मनोवैज्ञानिक दबाव डाला है और उन्हें नकलची बना दिया है। ब्रिटिश राज में क्षेत्रीय भाषाओं का जो हाल किया गया, वह बेहद दुखदायी है। राममोहन रॉय और बड़े परिवर्तनकारी होते, लोकमान्य तिलक और बड़े विद्वान होते, अगर उन्हें अंग्रेजी में सोचना-समझना और अपने विचारों का प्रसार न करना पड़ता। इसमें कोई शक नहीं कि उन्हें अंग्रेजी साहित्य के ज्ञान से लाभ मिला, लेकिन ये बातें वे अपनी भाषा में भी समझ सकते थे। कोई भी देश अनुवादकों को पैदा कर एक राष्ट्र नहीं बन सकता। जरा सोचिए, अगर बाइबिल का कोई प्रामाणिक रूप नहीं होता तो अंग्रेजी का क्या होता। मेरा मानना है कि चैतन्य, कबीर, नानक, गुरु गोविंद सिंह, शिवाजी और महाराणा प्रताप वास्तव में राममोहन रॉय और तिलक से बड़े आदमी थे। मैं ऐसा नहीं मानता कि अगर राममोहन रॉय या तिलक को अंग्रेजी नहीं आती तो वे उन विचारों को नहीं सोच पाते, जो उन्होंने सोचे। भारत में जितने तरह के अंधविश्वास हैं, उनमें इस बात से बड़ा अंधविश्वास कोई नहीं है कि बगैर अंग्रेजी जाने स्वतंत्रता को समझना और उससे जुड़े विचारों में खरापन नहीं आ सकता है। हमें याद रखना चाहिए कि पिछले पचास सालों के दौरान देश में शिक्षा की केवल एक ही व्यवस्था रही है। विचारों को प्रकट करने के लिए माध्यम भी एक ही रहा है, इसलिए हमारे पास इस संबंध में आंकड़े भी नहीं हैं। हाँ, हम यह ज़रूर जानते हैं कि भारत पचास साल पहले के मुकाबले अब ज्यादा गरीब है। यहाँ की शिक्षा प्रणाली सबसे ज्यादा दोषपूर्ण है। इसकी पैदाइश ही गलत हुई थी। अंग्रेजी शासक तो देशी प्रणाली को खराब नहीं बल्कि बेकार समझते थे। इसका विकास भी सही नहीं हुआ। क्योंकि इसका मकसद था भारतीयों के तन, मन और आत्मा को कुंद करना।''

वक्त के साथ गांधी के विचार बदले नहीं। आजादी के चंद साल पहले सन् 1944 में गांधी ने फिर ऐसी ही कुछ बातें कहीं, लेकिन इस बार भविष्य में इससे होने वाले असर की उन्हें चिंता थी। उन्होंने

कहा- ''अपनी मातृभाषा की तुलना में अंग्रेजी के लिए प्यार ने शिक्षित और राजनीतिक वर्ग एवं आम जनता के बीच में एक बड़ी खाई पैदा कर दी। हम अपनी मातृभाषा में जब कठिन विचारों को व्यक्त करना चाहते हैं, कर नहीं पाते। इसका नतीजा बेहद खराब है। देश की भाषाओं की उपेक्षा करके हम देश की उपेक्षा करते हैं।''

नेहरू के शब्द और जोरदार थे। उनका कहना था- ''कुछ लोगों को लगता है कि अंग्रेजी भारत की आम बोलचाल की भाषा बन जाएगी। मुझे यह बेहतरीन ख्याल लगता है लेकिन महज कुछ उच्चवर्गीय तबके के लिए। इसका आम लोगों की शिक्षा और संस्कृति की समस्या से कोई वास्ता ही नहीं है। मुमकिन है कि अंग्रेजी धीरे-धीरे तकनीकी, वैज्ञानिक, कारोबारी बोलचाल और खासतौर पर अंतर्राष्ट्रीय संपर्क की भाषा बना जाए लेकिन अगर हमें दुनिया को संतुलित नजरिए से देखना है तो अंग्रेजी के चश्मे से बाहर निकलना होगा।''

इतने दृढ़ विचारों के बावजूद और 1925 के इस प्रस्ताव के बावजूद कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यवाही हिन्दुस्तानी भाषा में संचालित की जायेगी, राष्ट्रीय आंदोलन की मजबूरियों के कारण कांग्रेस की आधिकारिक भाषा अंग्रेजी ही बनी रही. नेहरू अपनी क्लासिकल अंग्रेजी बोलते रहे और भारतीय स्वतंत्रता के दिन (15 अगस्त 1947 को) उन्होंने अपना प्रसिद्ध भाषण भी अंग्रेजी में ही दिया.

अंग्रेजी और अंग्रेजियत के बढ़ते प्रभाव के बावजूद ऐसा नहीं हुआ कि अंग्रेजों ने भारतीय बुद्धिजीवियों को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा हो. ऐसी स्थिति में भारतीय बुद्धिजीवी के मन में भी एक अजीब द्वैत सा पैदा हो गया. वह अंग्रेजी माध्यम से वैश्विक परिवर्तनों को ग्रहण तो करना चाहता था लेकिन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को त्यागना भी नहीं चाहता था जो सही भी था. पराधीनता की स्थिति में उसे इस संतुलन को बनाने में और भी कठिनाई महसूस होती थी. पवन वर्मा राजा राममोहन रॉय और गालिब के उदाहरण देते हुये बताते हैं कि दोनों को ही अपनी परंपरा पर गर्व था और वे अपने साहित्य तथा संस्कृति के गहरे अध्येता थे पर उनमें से एक को ब्रिटिश पार्लियामेंट में भारतीय संस्कृति को हेय सिद्ध करना पड़ा वहीं दूसरे को अपने जीवन यापन के लिये अंग्रेजों को अर्जियाँ देनी पड़ीं और अपनी सभ्यता को 'तिनकों का सूखा ढेर' और यूरोपीय ज्ञान को 'मोतियों की खान' कहना पड़ा. वे सिर्फ ऐसा कह ही नहीं रहे थे, वे ऐसा समझने भी लगे थे. गांधी (हिंद स्वराज्य) और अरविंद (फाउंडेशन्स ऑफ इंडियन कल्चर) जैसे बुद्धिजीवी अपनी परंपरा के पक्ष में दृढ़ता से खड़े रहे और उन्होंने भारतीय स्वराज तथा राष्ट्रीयता की अलग तरह से कल्पना की.

स्वाधीनता के बाद देश में दो तरह की धारायें विकसित हुईं. इनमें से एक ने पश्चिम के विकास के मॉडल को अपनाया और दूसरी ने भारतीय संकल्पनाओं के आधार पर विकास के वैकल्पिक मॉडल प्रस्तुत किये. पश्चिम ने अपने मॉडल के पक्ष में बाजार और वैश्वीकरण की अवधारणायें प्रस्तुत कीं और उसके पक्ष में 'उत्तर आधुनिकता' का विचार प्रस्तुत किया जो कुल मिलाकर पूँजीवाद के सांस्कृतिक तर्क के रूप में ही सामने आता है.

उत्तर आधुनिकता की अवधारणाओं पर हम समय समय पर बात करते रहे हैं. यहाँ उनकी विस्तृत छानबीन करने का अवसर नहीं है. लेकिन यह कहना आवश्यक है कि स्वाधीन भारत के लिये उन्हें जस का तस मान लेना ज़रूरी नहीं. ऐसा हो भी नहीं रहा है. ऐसे कई प्रयास हुए हैं या हो रहे हैं जहाँ पश्चिम की वैचारिक संप्रभुता को चुनौती मिली है और उसके वैचारिक आधारों को भारतीय मान्यताओं पर जांचने के प्रयास किये गये हैं. राजीव मेहरोत्रा की हाल ही में आई किताब 'बींग डिफरेंट' ऐसी ही एक किताब है.

●

भले ही परंपरा शब्द का प्रयोग श्रेणीगत (जेनेरिक) रूप में किया गया हो पर भारत के संदर्भ में यह कहना हमें विनम्र बनायेगा कि परंपरा कोई एक नहीं, विभिन्न हैं और उनके सहयोग, सह-अस्तित्व और कभी-कभी टकराव से ही भारतीय मानस का निर्माण हुआ है. उत्तर भारत में कला,

संगीत, स्थापत्य और आचार व्यवहार की परंपरा अलग है और दक्षिण में अलग. भारत में बड़ी संख्या में उपस्थित आदिवासी समाज की परंपराऐं शहरी समाज से बिल्कुल अलग हैं और उनमें से कई स्वागत योग्य तथा टिकाऊ विकास के हित में हैं. धर्म, दर्शन और साहित्य की समृद्ध परंपरा के साथ भारत में विज्ञान और वैज्ञानिक चिंतन की भी अपनी परंपरा है और वर्तमान समय में शायद उसके पुनः अन्वेषण की सबसे ज्यादा ज़रूरत है. आइये भारत की विविध परंपराओं में से उदाहरण के तौर पर हम इस वैज्ञानिक परंपरा पर दृष्टिपात करते हैं.

विज्ञान का सामान्य अर्थ समझा जाता है 'पश्चिमी विज्ञान' जिसने अनेक अद्‌भुत आविष्कारों और टेक्नॉलॉजिकल यंत्रों को जन्म दिया है। किन्तु आधारभूत वैज्ञानिक सिद्धांत और तकनीक प्राचीन काल में भी मौजूद थे और विज्ञान के विकास में पूर्व का महत्वपूर्ण योगदान है। सभ्यता की अनेक निधियां पूर्व से मिली हैं।

भारत में प्रारंभिक विज्ञान की दो प्रमुख धाराएं थीं- प्रथम, गणित और खगोल शास्त्र तथा द्वितीय, औषध विज्ञान। आपस्तम्बकृत 'सल्वसूत्र' में पाइथागोरस के प्रमेयों तथा अन्य कई विशिष्ट प्रश्नों का सामान्य विवरण है। 'सल्वसूत्र' का प्रणयन पाइथागोरस के बाद के समय में हुआ था, किन्तु उसके विशिष्ट सूत्र निश्चय ही यूनानी नहीं, भारतीय हैं। वे प्राचीन प्रयोगसिद्ध अंकीय आविष्कार हैं जिनके आधार पर बाद में ज्यामितीय प्रमेय बने या प्रमेय के आधार पर विकसित विशिष्ट हिन्दू प्रयोग हैं, यह इतना स्पष्ट नहीं है। संक्षेप में इतना कहना ही काफी है कि हमारे यहाँ गणित में हिन्दुओं की महत्वपूर्ण मौलिक उपलब्धियाँ हैं। स्थानिक अंकों का महत्वपूर्ण आविष्कार तथा 'शून्य' के लिए संकेत भारतीय योगदान है। खगोलशास्त्र में हमारे यहाँ पांच सिद्धांत, पैतामह, वसिष्ठ, सूर्य, पौलिष और रोमक हैं, और यह परम्परा अटूट रही है- आर्यभट्ट (पांचवीं शताब्दी ईसवी), वराहमिहिर (छठी शताब्दी), ब्रह्म गुप्त (छठी और सातवीं शताब्दी), महावीर (नवीं शताब्दी), श्रीधर (दसवीं शताब्दी), भास्कर (बारहवीं शताब्दी)।

औषधविज्ञान का उदय बहुत पहले हुआ। बुद्ध के युग में, आत्रेय तक्षशिला में अध्यापक थे और उनसे अपेक्षाकृत कम उम्र समकालीन सुश्रुत काशी (अथवा बनारस) में शिक्षक थे। बाद में विज्ञानियों ने शल्यचिकित्सा पर जोर दिया- अण्डकोष में आंत उतरने, पेडू चीरकर बच्चा पैदा करने, मूत्राशय की पथरी, मोतियाबिन्द की शल्यचिकित्साएं प्रचलित हुईं। शल्यक्रिया के 121 भिन्न औजारों का वर्णन मिलता है। मलेरिया और मच्छरों का सम्बन्ध मालूम किया जा चुका था और मधुमेह के रोगियों के मूत्र में शर्करा की उपस्थिति मालूम थी। कश्मीर में जन्मे और कनिष्क के समय में जीवित (120-162 ईसवी) चरक ने आत्रेय के एक शिष्य अग्निवेश के आधार पर एक ग्रंथ की रचना की। वाग्भट्ट (पिता और पुत्र) तथा माधवकर व वृन्द इस क्षेत्र के अन्य व्यक्ति थे।

दिल्ली का लौह-स्तंभ लगभग 400 ईसवी में खड़ा किया गया था। इसकी ऊंचाई 28 फुट से अधिक है। तथा आधार का व्यास 16.4 इंच है जो कम होते-होते 12.04 इंच हो जाता है। यह विशुद्ध, जंग न खाने वाले लोहे का बना है। इसे वे कैसे बना सके? सुल्तानगंज की बुद्ध की मूर्ति विशुद्ध तांबे की दो परतों से बनी है जो साढ़े सात फुट ऊंचे और एक टन भारी एक अन्तर्भाग पर मढ़ी गई है। ये इंजीनियरिंग के कौशल के आश्चर्यजनक नमूने हैं।

संस्कृत व्याकरण का विकास ग्रीक व्याकरण से पहले हुआ था। यास्क ने वेदों की व्युत्पत्तिविषयक टीका 'निरुक्त' लिखी। यह पाणिनि-काल से पहले, 500-700 ईसा पूर्व के आसपास की है। भाषा विज्ञान और व्याकरण में पाणिनि का नाम सर्वोपरि है। वे छठी सदी ईसा पूर्व के उत्तरार्ध में हुए थे। पाणिनि ने यास्क और शौनक को अपना अग्रज माना है। उनकी 'अष्टाध्यायी' एक दीर्घकालीन भाषा विज्ञानी विकास का शीर्षबिन्दु है। पाणिनि ने नियमों को स्वीकार और अपवादों को व्यक्त किया है। उनकी अष्टाध्यायी में लगभग 4000 सूत्र हैं। केवल एक लेखक अकस्मात् इनका आविष्कार करके दूसरों पर लाद नहीं सकता था। यह शताब्दियों का विकास है और पाणिनि परम्परागत व्याकरण को

अन्तिम रूप प्रदान करने वाले वैयाकरण थे। उनकी कृति में अनेक अग्रजों के नाम हैं। अपनी शुद्धता और विस्तार के कारण ही वे अपने अग्रजों से आगे बढ़ गए।

पतंजलि के अनुसार, पाणिनि की कृति भली प्रकार सम्पादित एक महान ग्रन्थ है। कात्यायन ने अपनी टिप्पणियों 'वार्त्तिक' का प्रणयन पाणिनि के सूत्रों के तुरन्त बाद किया था और उनकी व्याख्या पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' (दूसरी शताब्दी ईसापूर्व) में की थी। भाषाविज्ञान का सम्पूर्ण विकास 600-1000 ईसापूर्व में हुआ था। भाषाविज्ञान जैसे कठिन विषय का इतने प्राचीन काल में इतना अधिक विकास सदा विस्मयजनक रहेगा। इससे यही मालूम होता है कि अत्यधिक प्राचीन भारत के बारे में हमारा ऐतिहासिक ज्ञान असम्पूर्ण है- इस महान काल की आंशिक झांकी हमें केवल पुरातत्व से मिल सकती है।

भाषाविज्ञान के उत्तरकालीन विकास में 'कातंत्र' के रचयिता सर्ववर्मन (300 ईसवी), चन्द्रगोमिन (600 ईसवी), 'वाक्यपदीय' के रचयिता भर्तृहरि (सातवीं शताब्दी ईसवी) के नाम शीर्षस्थ हैं। 'वाक्यपदीय' में भाषाविज्ञान या व्याकरण से अधिक जोर भाषा के दर्शन पर दिया गया है। जयादित्य और वामन ने पाणिनि पर एक पाठ्यपुस्तक 'काशिकावृत्ति' की रचना की। 1625 के लगभग भट्टोजि दीक्षित ने 'सिद्धांतकौमुदी' का प्रकाशन किया; यह पाणिनि के ग्रन्थ का सार-संक्षेप है।

संस्कृत के वैयाकरणों ने सर्व प्रथम शब्द-रूपों का विश्लेषण किया, धातु और प्रत्यय का अन्तर समझा, प्रत्यय के कार्य निश्चित किए, और कुल मिलाकर इतने अधिक शुद्ध और सम्पूर्ण व्याकरण का निर्माण किया कि उसका सानी किसी दूसरे देश में पाना असंभव है। प्रोफेसर वेबर का कथन है कि ''पाणिनि के व्याकरण में भाषा की जड़ों तथा उसके शब्दों की रचना की खोज पूरी गहराई के साथ की गई है, इसलिए वह अन्य सभी देशों के व्याकरणों में श्रेष्ठ है।''

यह कोई संयोग नहीं कि स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जब भारतीय दर्शन और सांस्कृतिक मूल्यों की पुनः स्थापना हो रही थी उसी समय सर सी.वी. रामन ने भौतिकी की अपनी महत्वपूर्ण खोज की और भारत के पहले नोबल पुरस्कार प्राप्त करने वाले वैज्ञानिक बने. वर्तमान में भारत विज्ञान और तकनीक के कई क्षेत्रों में विश्व के शीर्षस्थ देशों में गिना जाता है और मूलभूत विज्ञान में प्रगति के लिये एक व्यग्रता देश में देखी जाती है. सामाजिक विज्ञान तथा प्राकृतिक विज्ञान के बीच भी संवाद की गहरी कोशिश जारी है. यदि हमें विश्व में एक स्वतंत्र और शक्तिशाली देश के रूप में स्थान बनाना है, जहाँ हमारे धर्म, संस्कृति और ज्ञान की रक्षा हो सके और वह सतत प्रवहमान रह सके, तो हमें विज्ञान और तकनीक के विकास की भी उतनी ही चिंता करना पड़ेगी जितनी कला और संस्कृति की. न सिर्फ ये, बल्कि विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि की इस ताकत को आम लोगों तक भी पहुंचाना होगा और यह काम उनकी ही भाषा में होगा.

●

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विश्व में तीन बड़ी घटनाऐं हुई हैं. एक, सोवियत साम्राज्य का पतन जिसे वामपंथी विचारधारा और समाजवादी स्वप्न तथा दृष्टि के अंत के रूप में देखा जा रहा है, दो, इस्लामी आतंकवाद का उदय जिसे सभ्यताओं के टकराव के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है तथा तीन, वैश्वीकरण या 'विश्व ग्राम' की अवधारणा का उदय जिसके पक्ष में उत्तर आधुनिकता का विचार खड़ा किया गया है जो इतिहास के साथ साथ कलाओं के अंत की भी घोषणा करता है और ऐसा वैचारिक कुहासा खड़ा करता है जिसमें आदमी की पहचान ही मुश्किल हो जाये। विश्व में देशों के बीच और देशों के भीतर असमानताऐं बढ़ी हैं और स्थान स्थान पर, अनेक रूपों में जन संघर्ष देखने मिलता है। ऐसे में परंपरा और आधुनिकता को परिभाषित कर सकना और इसके व्यावहारिक पक्ष को जांच पाना अत्यंत कठिन हो जाता है. फिर भी हम ऊपर की गई चर्चा के आधार पर कुछ सामान्य निष्कर्षों की ओर पहुंचने का प्रयास करते हैं।

●

परंपरा कोई स्थिर वस्तु नहीं बल्कि सतत प्रवहमान है। वह देश और काल दोनों में स्थित है और दोनों से ही प्रभावित होती है। परंपरा में यह प्रवाह परंपरा के विरुद्ध विद्रोह करके ही प्राप्त होता है। यानी रूढ़ हो चुकी परंपरा को त्यागना और उसके जीवंत तत्वों को लेकर आगे बढ़ना, और इस तरह नई परंपरा का निर्माण करना उसे प्रवहमान बनाना है। समय-समय पर इस तरह की रूढ़ियों को छोड़ा गया है और नये का आह्वान किया गया है और इसी से भारतीय परंपरा बनती है।

हालांकि परंपरा की पहचान के लिये इतिहास एकमात्र निर्धारक तत्व नहीं है पर फिर भी, इतिहास की सही समझ के बिना भी अपनी परंपरा को ठीक-ठीक नहीं पहचाना जा सकता और न ही आज के समय के लिये नई रणनीति निर्धारित की जा सकती है। किसी राष्ट्र या राष्ट्रीयता के लिये इतिहास के साथ-साथ अपने भूगोल की समझ भी आवश्यक है।

परंपरा का मूल्यांकन भी उसके विकास तथा प्रवहमानता की दृष्टि से ही किया जाना चाहिये। उदाहरण के लिये अगर हम भाषा पर विचार करें तो उसे किसी 'दैवी' या 'दी हुई' चीज मानने के बदले यह देखना ज्यादा न्यायपूर्ण होगा कि उसका विकास कैसे हुआ है, उसका रूप धीरे-धीरे कैसे बदला है। यदि संगीत पर बात करें तो रस और सौंदर्य के साथ साथ देखें कि समाज की आंतरिक गति के साथ उसकी गति कैसे बदली है, उसने किन प्रभावों को लिया और किन प्रभावों को छोड़ा है, यदि साहित्य पर बात करें तो देखें कि वह किन मूल्यों से अनुप्राणित होता है और वे समय के साथ कैसे 'ट्रांसफॉर्म' हुये हैं।

परंपरा शब्द का उपयोग हालांकि श्रेणीगत (जेनेरिक) रूप में किया जाता है पर हमारे देश के संदर्भ में और वैश्विक संदर्भों में भी, यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि परंपरा कोई एक नहीं बल्कि अनेक हैं और इस अनेकता का सम्मान किया जाना चाहिये। धर्म, दर्शन और साहित्य की परंपराओं के बरक्स विज्ञान एक चुनौती के रूप में खड़ा है और वैज्ञानिक दृष्टि से संपन्न, अपनी संस्कृति और कला में रचे बसे, मनुष्य की कल्पना अभी बाकी है।

पूर्व को आध्यात्मिक और गैर भौतिक तथा पश्चिम को भौतिकतावादी मानना एक तरह का कृत्रिम विभाजन है क्योंकि सभ्यता के विकास के अलग अलग चरणों में पूर्व ने भी विज्ञान के विकास में उतना ही योगदान दिया है जितना पश्चिम ने और पश्चिम ने भी धर्मांधता तथा रूढ़िवादिता के वैसे ही चरण देखे हैं जिन्हें वह पूर्व पर आरोपित करता है। (असल में तो पूर्व ने समन्वय के अद्‌भुत प्रमाण प्रस्तुत किये हैं).

इस दृष्टि से देखा जाये तो आधुनिकता किसी ऊपरी आवरण से निर्धारित नहीं होती। वह एक दृष्टि है जो इतिहास के प्रवाह को पहचानती है, विविधता और बहुलता का सम्मान करती है और मानवीय गरिमा के पक्ष में काम करती है। वह साहित्य, कला तथा मनुष्य को विखंडित करना नहीं चाहती बल्कि उसे समग्रता में देखती है और इस तरह मनुष्य को मनुष्य बनाये रखना चाहती है, उसे वस्तु में परिवर्तित होने से रोकती है।

●

'रंग संवाद' का नया अंक रंगमंच के विभिन्न आयामों पर केंद्रित है। आशा है आप इसे पसंद करेंगे।

शुभकामनाओं सहित।

● संतोष चौबे

नुक्कड़ नाटक से जुड़ा रंगकर्मी मानता है कि अगर साम्प्रदायिक सौहार्द, पर्यावरण चेतना, साक्षरता और स्वास्थ्य जैसे मुद्दों पर नाटक किये जाते हैं तो इसमें बुराई क्या है! ये सभी या तो अहम राष्ट्रीय सरोकार हैं अथवा प्रमुख सामाजिक मुद्दे। इन्हें लेकर लोगों में चेतना और जागरूकता पैदा करना भी कम जरूरी काम नहीं है।

प्रतिरोध का रंगमंच

राजाराम भादू

अमेरिका में दशकों पूर्व नीग्रो कहे जाने वाले लोगों ने 'स्ट्रीट थियेटर' को जन्म दिया। उस समय काले लोग अमेरिका में दूसरे दर्ज़े का जीवन जीते थे। उनकी हालत हमारे देश में दलितों जैसी थी बल्कि कई मायनों में तो इससे भी बदतर। मसलन इन्हें कभी अमेरिकीयों ने अपने देश का नागरिक नहीं समझा बल्कि वे इन्हें बराबर दास ही समझना चाहते थे। इस सबके पीछे इनकी गलती सिर्फ यह थी कि ये लोग काले थे। और यह रंग उन्हें कुदरत ने प्रदान किया था।

जब मार्टिन लूथर किंग ने नीग्रो लोगों के समान नागरिक अधिकारों की बात उठायी तो इसकी अभिव्यक्ति सांस्कृतिक प्रतिरोध में भी हुई और इसी का परिणाम था 'स्ट्रीट थियेटर'! परम्परागत वैभवशाली रंगमंच तो अमेरिकी अभिजात्य के लिए सुरक्षित थे। वहाँ काले लोगों का प्रवेश पूरी तरह वर्जित था। तो नीग्रो युवा कलाकारों ने सड़कों-गलियों को चुना। इस तरह यह रंगमंच अपने जन्म की प्रकृति से ही प्रतिरोध का रंगमंच था। बाद में समूचे यूरोप के क्रान्तिकारी आन्दोलनों में इस सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के माध्यम को चुना गया। यहीं इसे 'एजिट प्रोप' का नाम मिला जो इसे विरोधियों ने दिया। वे इसे कला का दर्ज़ा भला कैसे दे सकते थे, अतः स्वाभाविक ही है कि उन्होंने इसे 'प्रचार का रंगमंच' अर्थात् एजीटेशन प्रोपेगेन्डा कहा। लेकिन यहाँ भी यह अपने तमाम प्रचार-तत्व के बावजूद 'थियेटर' बना रहा और यहीं से रंगमंच में नये आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।

रेखांकनः अशोक भौमिक

ब्रेख्त ने रंगमंच को जो नयी शैली और अभिव्यक्ति दी, उसकी आधारभूत धारणाओं के निर्माण में प्रतिरोध के रंगमंच का बहुत बड़ा योगदान है। मंचीय रूढ़ियों से नाटक की मुक्ति मनुष्य के मुक्ति-संघर्ष से गहरे रिश्ते के कारण ही संभव हुई। खामोश सड़कें ठण्डी और कठोर होती हैं, वहाँ किसी छद्म आकर्षण के लिए कोई गुंजाइश कहाँ है!

हमारे देश में आज के नुक्कड़ नाटक की जड़ें संस्कृत-काल से ही लोक के खुले रंगमंच से जुड़ी हैं। देश की विभिन्न भाषा-भाषी सांस्कृतिक धाराओं में हम इसके सूत्र ढूंढ सकते हैं। अकेले हिन्दी क्षेत्र में लोक-रंगमंच की अनेक विधाएँ हैं। लेकिन नुक्कड़ नाटक बृज की जिस लोक-विधा के सबसे ज्यादा नज़दीक पड़ता है वह है- स्वांग-। स्वांग की प्रकृति नाटक के उस रूप से बहुत मिलती-जुलती है जिसे हम प्रहसन कहते हैं। रामलीला या रासलीला के मध्य में जब कलाकार थोड़ा विश्राम या आगे के दृश्यों की तैयारी करते थे। तो वे मंच स्थानीय कलाकारों को सौंप देते थे। ये स्थानीय कलाकार किसी भी स्थानीय कथानक को नाट्यरूप में प्रस्तुत कर देते थे। इस प्रस्तुति में या तो हास्य होता या हल्का सा कटाक्ष। यह कटाक्ष ऐसे किसी प्रभावशाली व्यक्ति पर होता था जिसके विरोध में सामान्यतः वैसे कुछ कह सकना संभव नहीं होता था।

यह मध्यान्तर का रंगमंच जो खाली बैठे दर्शकों को बांधे रखने के विकल्प के तौर पर उभरा था। एक भरी-पूरी लोकविधा बन गया। साथ ही, यह परंपरागत रंगमंच से नये रंगमंच का जीवंत रिश्ता भी था क्योंकि स्वांग का कोई बना-बनाया कथानक नहीं था। वह तो स्वांग करने वालों की सामूहिक योजना के आधार पर जन्म लेता था।

आधुनिक रंगमंच के समानान्तर यदि हम नुक्कड़ नाटक की पृष्ठभूमि को देखें तो वहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक मील का पत्थर हैं। उनका नाटक 'अंधेर नगरी' एक नयी तरह के रंगमंच का सूत्रपात करता है। जहाँ पुराना सब कुछ नये अर्थ लिये हुए है और लोक का फलक देश के बुनियादी संघर्ष तक विस्तारित है। हमारे नुक्कड़ नाटकों ने अपना सम्बन्ध भारतेन्दु की इस परम्परा से मूल रूप में जोड़ा है।

भारतेन्दु में वह सब कुछ मौजूद है जिसे नुक्कड़ नाटक में विकसित किया जा सकता है। हमारे यहाँ भी नुक्कड़ नाटकों का पहला दौर प्रतिरोध के रंगमंच का ही रहा है। आपातकाल में ही नुक्कड़ नाटक ने सत्ता का विरोध शुरू कर दिया था। पंजाब में गुरुशरणसिंह के नुक्कड़ नाटक और नक्सलवादी आन्दोलन से सम्बद्ध नाटकों की यही भूमिका रही है। उन नाटकों के सीधे सरोकार राजनीतिक थे।

फिर नुक्कड़ नाटकों ने कुछ वृहद आयाम ग्रहण किया। विभिन्न श्रमिक-संगठनों के धरने व प्रदर्शनों में नुक्कड़ नाटकों ने एक प्रभावशाली माध्यम का रूप अख्तियार किया। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी अंचलों में जंगल बचाने और शराब ठेकों के विरोध में महत्वपूर्ण नुक्कड़ नाटक खेले गये। लेकिन उल्लेखनीय है कि यहाँ भी इन नाटकों की प्रकृति मूलतः व्यवस्था विरोध की ही थी। बाद में, राजनीतिक नाटक करते हुए ही सफदर हाशमी की एक हमले के कारण मृत्यु हुई। नुक्कड़ नाटक की यहाँ तक की यात्रा को एक चरण कहा जा सकता है, जहाँ वह प्रतिरोध की भूमिका निभाता है।

इन नाटकों की प्रकृति मूलतः व्यवस्था विरोध की ही थी। बाद में, राजनीतिक नाटक करते हुए ही सफदर हाशमी की एक हमले के कारण मृत्यु हुई। नुक्कड़ नाटक की यहाँ तक की यात्रा को एक चरण कहा जा सकता है, जहाँ वह प्रतिरोध की भूमिका निभाता है।

इसके बाद हम नुक्कड़ नाटक के चरित्र में एक बुनियादी परिवर्तन होता देखते हैं। चाहे इसके जो भी कारण रहे हों। एक तरफ तो सरकार की सांस्कृतिक संस्थाएँ नुक्कड़ नाटक को अपना लेती हैं। अभी तक पुलिस और प्रशासन नुक्कड़ नाटक खेलने पर पाबंदियाँ लगाता रहा था। कई जगह तो रंगकर्मियों को पुलिस दमन तक झेलना पड़ा था। दूसरी ओर नुक्कड़ नाटकों में व्यवस्था विरोध का स्वर धीमा पड़ता चला गया। सफदर हाशमी की स्मृति में गठित संस्था 'सहमत' ने बाद में ज्यादातर नाटक साम्प्रदायिक सौहार्द को लेकर किये। 'सहमत' को केन्द्र-सरकार के संस्कृति-मंत्रालय ने आर्थिक मदद देना शुरू कर दिया।

इसी के साथ केन्द्र-सरकार और विभिन्न राज्य सरकारों के संस्कृति-मंत्रालयों, संस्थाओं और अकादमियों ने ही नहीं बल्कि दूसरे और विभागों ने नुक्कड़ नाटक को अपनी योजनाओं, नीतियों, कार्यक्रमों और संदेशों के प्रचार का माध्यम मान लिया। आज साम्प्रदायिक सद्भाव, पर्यावरण चेतना, साक्षरता और स्वास्थ्य विषयक अनेक मुद्दों पर नुक्कड़ नाटक करने के लिए सरकारी मदद का प्रावधान है।

सामान्यतः नुक्कड़ नाटक करने वाले अधिकांश रंगकर्मी बेरोजगार युवा रहे हैं। इनमें भी अधिकांश शौकिया नाटक मण्डलियों से जुड़ते हैं। ऐसी स्थिति में लम्बे समय तक रंगमंच की इस चुनौतीपूर्ण विधा में इनके लिए टिके रहना कोई आसान बात नहीं है। इसलिए स्वाभाविक ही है कि ये युवा सरकारी तंत्र से जुड़ें और उसकी मदद से नाटक करें। इसके लिए सबसे अनुकूल वातावरण दूरदर्शन ने तैयार किया है। चूंकि दूरदर्शन भी एक सरकारी माध्यम है- इसके लिए इन नाटकों का प्रसारण यह नियमित करता रहता है। इस तरह अब नुक्कड़ नाटक कलाकार को सिर्फ अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं देता, उसे उपयुक्त मंच और पैसा भी देता है।

नुक्कड़ नाटक से जुड़ा रंगकर्मी मानता है कि अगर साम्प्रदायिक सौहार्द, पर्यावरण चेतना, साक्षरता और स्वास्थ्य जैसे मुद्दों पर नाटक किये जाते हैं तो इस में बुराई क्या है! ये सभी या तो अहम राष्ट्रीय सरोकार है अथवा प्रमुख सामाजिक मुद्दे, इन्हें लेकर लोगों में चेतना और जागरूकता पैदा करना भी कम जरूरी काम नहीं है। वह उसे 'चेतना का रंगमंच' मानता है।

वस्तुतः यह अनुप्रयुक्त रंगमंच (एप्लाइड थियेटर) है जिस तरह पेन्टिंग में अनुपयुक्त कला एक अलग अध्ययन शाखा के रूप में विकसित हुई है। पत्रकारिता के व्यावसायिक पाठ्यक्रम चल रहे हैं। साहित्य में सृजनात्मक पाठ्यक्रम चल रहे हैं और विज्ञापन तकनीक की तमाम शाखाएं-प्रशाखाएं फैली हैं। वैसे ही यह रंगमंच का एक नया स्वरूप उभरके सामने आया है।

अनुप्रयुक्त रंगमंच यानी हमारे काम आने वाला थियेटर। यह रंगमंच के परम्परागत शास्त्रीय और लोक-स्वरूप की तुलना में मीडिया के कहीं अधिक नजदीक है। बल्कि एक तरह से मीडिया का ही एक आयाम-कलात्मक और प्रभावी कारक।

अनुप्रयुक्त रंगमंच के तहत नुक्कड़ नाटक ने एक निश्चित ढांचा अख्तियार कर लिया है। इसमें नाटक शुरू करने की एक रीति है ताकि देखने के लिए भीड़ जुट जाये। फिर समस्या परिचय की है। किस समस्या के इर्द-गिर्द बुना गया कथानक है। अपनी संरचना और रीतिबद्धता के हिसाब से देखें तो ये नाटक पूर्व के नुक्कड़ नाटकों से कहीं अधिक संगठित है। इनकी प्रस्तुति भी उनसे अधिक तैयारी से की जाती है। कलाकार भी अभिनय में काफी मंजे हुए होते हैं। लेकिन सब कुछ के बावजूद ये वैसा प्रभाव नहीं छोड़ते, आखिर ऐसा क्यों है? इस पर भी विचार करने की जरूरत है।

दूसरे, यह प्रायोजित कार्यक्रम है। यह कलाकारों का अपना सामूहिक आयोजन नहीं है, बल्कि किसी तंत्र के लिए किया जा रहा है। यह जनता से संवाद नहीं है बल्कि उन्हें 'जागरूक' किया जा रहा है। जनता से दो तरफा सम्बन्ध नहीं है, उन्हें संदेश देने का एक तरफा संबंध है, जनता की भूमिका निष्क्रिय है।

अन्ततः पूर्व का नुक्कड़ नाटक समय, समाज और परिस्थिति की सीधी उपज था। प्रस्तुति के हिसाब से उसका दोहराव जरूरत पर आधारित था। इन नाटकों की आवृत्ति के कारण भिन्न है। इसलिए कुछ समय बाद इनकी प्रस्तुति मात्र आनुष्ठानिक होकर रह जाती है। अन्तर्वस्तु और प्रस्तुति के स्तर पर यह बहुत नकली लग सकते हैं। यह स्थिति नुक्कड़ नाटक का मौजूदा मुकाम है जो चिंता का विषय है।

स्मृतियों के लोकरंग

सेवाराम त्रिपाठी

रंगमंच, कविता, कहानी, नाटक एवं कला के अन्यान्य माध्यमों के साथ चलने वाली विधा है या विद्या है। यह बहुत प्राचीन कला माध्यम है। आदमी की जरूरतों के लिये, मनोरंजन के लिये, समय एवं जीवन के यथार्थ की खुली अभिव्यक्ति है। कहा जा सकता है कि अपने आपको अभिव्यक्त करने के लिये समाज में कुछ नया परिवर्तन लाने के लिये हमेशा इसका उपयोग किया जाता रहा होगा। आज के दौर में रंगमंच की नई तकनीकों ने इसे नये रूपाकार दिये हैं। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में रंगमंच के विभिन्न आयामों की विस्तार से चर्चा की है उससे लगता है कि यह उनके पूर्व से चली आ रही एक सुदीर्घ परम्परा का वाहक है, जिसमें प्रयोगों के लिये भरपूर स्थान है और विस्तार की अनेक संभावनायें हैं। रंगमंच में कुछ है, नहीं बहुत कुछ है। यह कायरों में साहस भरता है और वीरों में उत्साह। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि ''यह ऐश्वर्यवानों के लिये विलास है, दुखियों को साहस देने वाला है। अर्थोपार्जन के इच्छुकों के लिये अर्थप्रद और उद्विग्न चित्त वालों के लिये धैर्य प्रदान करने वाला है।'' रंगमंच का भारत में बहुत विस्तार है। इसकी क्षेत्रीय और कस्बाई अस्मितायें भी हैं। रंगमंच और नाट्यकला के इतने रूप भारत में विकसित हुए हैं कि अचरज होता है। बघेली के लोक नाटकों एवं रंगमंच की विकास यात्रा को पहचानना बहुत आसान नहीं है। बघेली समाज में आदिवासी समाजों, पहाड़ी समाजों एवं समतल इलाकों में रहने वाले लोगों की बहुतायत रही है। इसलिए इसके लोकनाट्यों एवं रंगमंचों के अनेक रूप मिलते हैं। इन लोकनाट्यों की कोई स्क्रिप्ट (आलेख) नहीं होती। ये अपनी-अपनी जरूरतों के अनुरूप खेले जाते हैं और लोगों की स्मृतियों में दर्ज होते रहते हैं। बघेली रंगमंच में जिन लोकनाट्यों की चर्चा अक्सर होती है। उनका कोई लिखित रूप प्रायः नहीं है। परम्पराओं और सुनी-सुनाई बातों के आधार पर जो तथ्य पहचान में आये हैं, इनकी अब तक केवल वाचिक परम्परा है। इनके कुछ रूप इस प्रकार हैं- (1) नटकौरी (जिन्दबा), (2) मनसुखा, (3) हिंगाला, (4) लकड़बग्घा, (5) नौटंकी, (रामायण की कथा एवं महाभारत की कथा तथा अन्य कथायें, (6) रामलीला। कथानक के फैलाव की दृष्टि से ये लोकनाट्य दो तरह के होते हैं। एक वे जिनकी कथाएँ सुदीर्घ होती हैं इसमें सात-सात घण्टे की प्रस्तुतियाँ होती हैं। दूसरे वो जिनकी कथा घण्टे-दो घण्टे में समाप्त हो जाती हैं। ये लोकनाट्य समाज की वास्तविक स्थिति को प्रदर्शित करते हैं।

नटकौरी या जिन्दबा : यह वाचिक परम्परा से विख्यात है। इसका कोई एक रूप नहीं है। अलग-अलग स्थानों, समाजों समयों में इसके भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं। इसे कहीं-कहीं 'बहलोल' नाम से भी जाना जाता है। माना जाता है कि 20-25 वर्ष पूर्व तक लड़के की बारात जिस दिन ब्याहने जाती थी तब बसी के दिन या भांवर के दिन

लड़के के घर में एक सामान्य सा जरूरत के अनुसार रंगमंच तैयार किया जाता था। इसकी कोई विशेष सज्जा नहीं होती थी। इस लोकनाट्य में अभिनय केवल स्त्रियाँ ही करती हैं। मुझे बचपन की याद है, मेरे घर में मेरी बड़ी चाची पुरुष वेश में मुख्य भूमिका में होती थीं। सामान्यतः यह लोकनाट्य पुरुषों के लिये, लड़कों के लिये पूर्णतः वर्जित रहता था। इसे छुपकर ही देखा जा सकता था। स्त्रियाँ पुरुषों की और पूरे समाज की ऐसी नकल करती थीं कि क्या कहने? कभी हास्य एवं व्यंग्य के द्वारा वास्तविकताओं का कच्चा चिट्ठा खोलती थीं। कभी समाज की कुप्रथाओं पर जबर्दस्त प्रहार होता था। बेटा-बेटी के भेद पर, दहेज पर, समाज की लोभ प्रवृत्ति पर पुरुषों की तानाशाही पर, उनके मनोविज्ञान पर चोट होती थी। यह अलिखित लोकनाट्य लगभग चार-पाँच घण्टे तक चलता था। मुझे लगता है कि यह उनके प्रतिरोध का एक तरीका है या एक आवश्यक कार्यवाही है। बद्रीनारायण के एक लेख से इसकी पुष्टि भी होती है। ''भोजपुरी लोक समाज में शादी-ब्याह के अवसर पर औरतें किसी रात को घर के अन्दर आँगन में एक विशेष आयोजन करती हैं, जिसे 'रतजगा' कहा जाता है। इसमें पुरुष का प्रवेश वर्जित है। इसमें नारियाँ स्वयं भी पुरुष बनकर पुरुष-समाज के अत्याचारों को अत्यन्त व्यंग्यात्मक शैली में उपस्थित करती हैं। वस्तुतः नारियों द्वारा पुरुष समाज के प्रति प्रतिरोध का यह सक्षम फॉर्म है, जिसमें वे पुरुष प्रधान समाज को मजाक का विषय बना देती हैं। चूँकि प्रत्यक्ष विरोध मुखरित भी नहीं कर पातीं, इसलिए वे प्रतिरोध के अप्रत्यक्ष फॉर्म तलाशती रहती हैं।'' ('लोक में प्रतिरोध और सामंजस्य' लेख से)। 'हम आपके हैं कौन' फिल्म में उसका थोड़ा सा हिस्सा ही फिल्माया जा सका है। यह स्त्रियों की कल्पनाशीलता को उनकी व्यंग्य शक्ति की मारक क्षमता को भी उजागर करता है। सम्भवतः बुन्देलखण्ड में इसे 'बाई-बाबा' के नाम से जाना जाता है। अब इसका प्रचलन लगभग खत्म हो रहा है क्योंकि शादी और विवाह अब दस-बारह घण्टों में निपट जाते हैं। टी.वी. और अन्य इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों ने इस लोकनाट्य को विशेष क्षति पहुँचाई है। अब किसी के पास इसे देखने का समय नहीं है।

मनसुखा : यह लोकनाट्य कृष्ण की कथा से उद्भूत है। मनसुखा के बारे में विख्यात है कि ये कृष्ण के परम सखा रहे हैं। इनका स्वभाव हास्य का रहा है। कृष्ण लीला में इनको मसखरे के रूप में पहचाना जाता है, जैसा कि महाभारत की कथा में प्रसिद्ध है। मनसुखा कृष्ण के बहुत ही लाड़ले साथी रहे हैं। सहयोगी रहे हैं कृष्ण की कौतुक क्रीड़ाओं में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। दही की चोरी, माखन की चोरी, गोपियों की मटकी तोड़ना, उन्हें तरह-तरह से सताना, परेशान करना। कृष्ण की रासलीला में कृष्ण को युक्तियाँ बताना। ये तमाम भूमिकायें मनसुखा के खाते में दर्ज हैं। मनसुखा एक हास्य पात्र की तरह लोगों के मन बहलाने के रूप में प्रस्तुत होते रहे हैं। बघेलखण्ड में मनसुखा अत्यंत लोकप्रिय पात्र है। कृष्ण से भी ज्यादा उसका मान सम्मान होता रहा है। प्रो. आदित्य प्रताप सिंह के शब्दों में- ''मनसुखा जाने अब कहाँ गया? फिल्म के किसी खलनायक ने उसे मार डाला या टी.वी. से झाँकने वाला सींकिया दैत्य उसे उठा ले गया। कभी-कभी वह अब किसी मेले-ठेले में प्रकट हो जाता है। मनसुखा का स्टेज अधखुला, ऊँचा और लम्बा-चौड़ा है। एक परदा भी होता है जिसकी ओट में पात्र छूही/रामरज या रंग पोतते हैं। कृष्ण लीला मनसुखा तक सीमित नहीं है, (कथन, पृ.-11) कहते हैं कि मनसुखा को देखने के लिये दर्शक घण्टों प्रतीक्षा करते थे। पहले अनेक कम्पनियाँ इनका प्रदर्शन करती थीं। बाद में इस लोकनाट्य का पराभव हो गया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के आगमन के पश्चात् इसकी रही सही भूमिका भी समाप्त हो गई है।

हिंगाला : हिंगाला एक देवी है, जिन्होंने दुश्मनों को मारा था और आदिवासियों की रक्षा की थी। यह जनजातियों का लोकनाट्य है। इसमें कोई मंच नहीं होता। आदिवासी युवक-युवतियाँ सेला मादर और टिमकी लेकर गाते और नाचते हैं। धीरे-धीरे इनके अलग-अलग समूह बन जाते हैं। दोनों टोलियों में होड़ होती है। इनमें नाच गान को लेकर बेहद उत्साह और उमंग होती है। अन्त में जो टीम पराजित

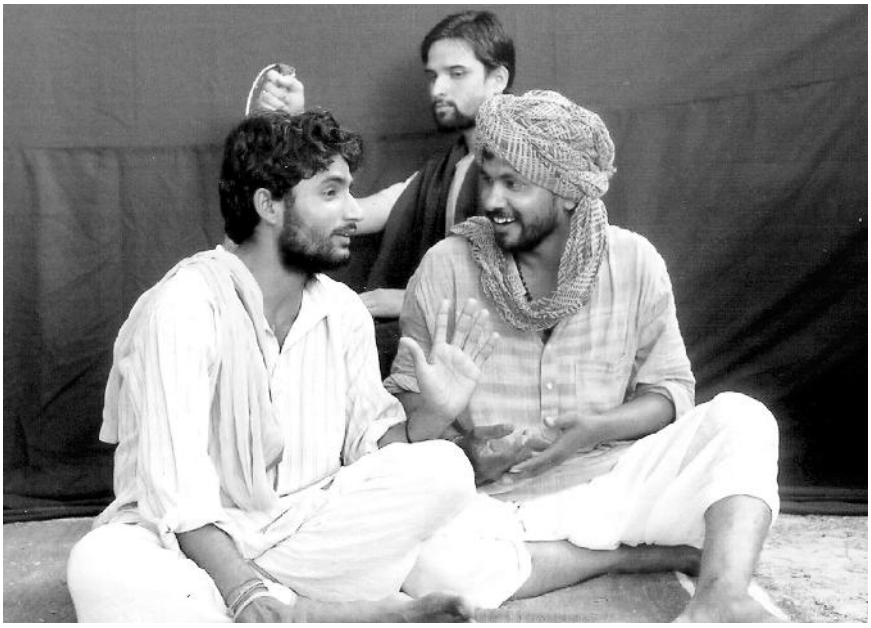

लोकनाट्यों की कोई स्क्रिप्ट (आलेख) नहीं होती। ये अपनी-अपनी जरूरतों के अनुरूप खेले जाते हैं और लोगों की स्मृतियों में दर्ज होते रहते हैं। बघेली रंगमंच में जिन लोकनाट्यों की चर्चा अक्सर होती है। उनका कोई लिखित रूप प्रायः नहीं है। परम्पराओं और सुनी-सुनाई बातों के आधार पर जो तथ्य पहचान में आये हैं, इनकी अब तक केवल वाचिक परम्परा है।

होती है वह शांत भाव से बैठ जाती है। विजयी टीम की युवती पराजित टीम के युवक का चयन कर लेती है। पराजित टीम से कहा जाता है- लकड़ी लाओ खाना बनाओ, बकरा लाओ आदि। पराजित टीम वाले युवक-युवतियाँ यदि चूक जाते हैं तो विजेता टीम के अविभाज्य हिस्से बन जाते हैं इसके बाद अभिनय शुरू होता है। जिसे 'हिंगाला' कहते हैं। कुमारी कन्या ही हिंगाला का अभिनय करती है। इसके गीत और नृत्य घण्टों चलते हैं। बाद के क्षणों में इसमें दर्शक भी शामिल हो जाते हैं। यह सामूहिकता की मिसाल भी है और हिंगाला देवी को मानने का एक सहज तरीका भी। मुझे ऐसा लगता है कि यह लोकनाट्य के बजाय लोकनृत्य है क्योंकि इसमें जिस तरह विजित और पराजित दल आपस में मिल जाते हैं। यह लोकनृत्य का स्वभाव है।

लकड़बग्घा : इसका मंचन किशोर-किशोरियों द्वारा होता है। यह किसी देवस्थान में मशालों (कपड़ों को बाँधकर उसमें किरोसिन का तेल लगाकर) को जलाकर इसका मंचन किया जाता है। यह मंचन विवाह के बाद होता है। इसमें एक लड़की को लकड़बग्घा उठा ले जाता है। लड़की रोती-चिल्लाती और कलपती है और बाद में अपने उठाने वाले लड़के से ही प्रेम करने लगती है। जब उस लड़की का भाई आता है तो लकड़बग्घा उसे अनजाने में ही खा जाता है। इस पर लड़की की भाभी खूब रोती है और उसे बद्दुआएं देती है। वह अपने घर लौट पड़ती है। इस पर लकड़बग्घा उस पर हमला कर देता है। तब किशोरों का समूह धनुष बाण लेकर आता है, भयानक युद्ध होता है, बाजे बजते हैं और लकड़बग्घा घायल होकर चिंघाड़ता है तब लड़की लौट आती है और उसकी मरहम-पट्टी करती है तथा उसकी सेवा करने लगती है। यह भी लोकनाट्य के बजाय लोकनृत्य है। यह बहुत मार्मिक होता है। इसमें गीत-संगीत, पूजा-अर्चना आदि सभी की जाती है। यह आदिवासियों में बहुत प्रसिद्ध है। इसे भी लोकनृत्य ही माना जा सकता है।

इन लोकनाट्यों के परिप्रेक्ष्य में कहा गया है कि- ''छत्तीसगढ़ के नाचा, उत्तरप्रदेश की रामलीला नकल तथा नौटंकी, बंगाल की जात्रा, महाराष्ट्र के तमाशा की तरह यहाँ भी लोकनाट्य की परम्परा रही है। 'मनसुखा' लोकनाट्य है, यह कृष्ण सुदामा की कथा पर आधारित होता है। इसमें हास्य की प्रधानता होती है। 'लकड़बग्घा' मानव के बच्चे को लकड़बग्घे द्वारा पाले जाने की कहानी पर आधारित लोकनाट्य है। 'जिन्दवा' (नकटा) नाम लोकनाट्य है। इसका क्षेत्र बघेलखण्ड से बुन्देलखंड तक फैला हुआ है। यह विवाह के अवसरों पर होता है। ...पति-पत्नी और अन्य व्यक्ति के सम्बन्धों को लेकर यह नाटक खेला जाता है। इसमें आंशिक अश्लीलता भी होती है। इन लोकनाट्यों में मनसुखा व लकड़बग्घा का प्रयोग अब बहुत कम हो गया है। जिन्दवा का प्रचलन अभी भी है। (वागर्थ, 2002)

नौटंकी : यह पारसी रंगमंच की देन है। उत्तरप्रदेश, बिहार एवं हिन्दी प्रदेशों में इसकी लोकप्रियता रही है। 'तीसरी कसम' फिल्म में इस नौटंकी के जादू को मूर्त किया गया था- यह विख्यात तथ्य है। मेलों में इसका प्रदर्शन बहुतायत से होता रहा है। नथाराम गौड़ द्वारा लिखित नौटंकी नाटकों को समूचे भारत में खेला जाता रहा है। बघेली जनजीवन में इसका अपना रूप कदकाठी है। इसके पात्र इन्दल रानी और बैरंग राजा है। दोनों के प्रेम और तड़प को नौटंकी में प्रदर्शित किया जाता रहा है। योगेश त्रिपाठी ने सेमइया नाटक का उल्लेख किया है- ''विवाह की समूची प्रक्रिया में कई नाटकीय उपक्रम होते हैं। इसीलिए बघेलखण्ड के लोकनाट्यों में वैवाहिक संस्कारों के वृहद दृश्य दिखाई देते हैं। बघेलखण्ड के सेमइया में भी वैदिक एवं पौराणिक विवाह का नाट्य चित्रण होता है। सेमइया नाट्य सखी समुदाय के भक्तों द्वारा खजुरी ताल एवं कुछ अन्य स्थलों में खेला जाता है। नाट्य में कलाकार पूरे भक्तिभाव से प्रदर्शन करते हैं और लगातार कई दिनों तक सेमइया चलता रहता है, जिसे देखने दूर-दूर से लोग आते हैं। सेमइया में विवाह-गीतों का प्राचुर्य रहता है।'' (नटरंग-73, मार्च-2005, पृ-66)

रामलीला

एक ऐसा समय था जब समूचे बघेलखण्ड में रामलीला की लोकप्रियता चरम पर थी। गाँव, कस्बों, मेलों में इसके निरंतर प्रदर्शन होते थे। समूचे बघेली भाषा-भाषी क्षेत्र में 70-75 से ज्यादा मण्डलियाँ सक्रिय रहती थीं। रामलीला गाँव-गाँव में होती थीं। प्रायः वहीं के गायक, नायक और अन्य पात्र अभिनय करने वाले होते थे। स्त्रियों की भूमिका पुरुष निभाते थे। मुकुट पूजा से प्रारम्भ होने वाली रामलीला राम राज्याभिषेक तक होती थी। दशहरा के अवसर पर इनके विशेष प्रदर्शन होते थे। ये रामलीलायें लगभग पच्चीस दिनों तक लगातार चलती थीं। इसके मंचन का आधार तो तुलसी द्वारा रामचरित मानस ही होता था। लेकिन इसमें 'राम स्वयंवर' (महाराजा रघुराज सिंह कृत) जिसमें कुछ शब्द बघेली के भी प्रयुक्त हुये हैं। केशव दास की 'रामचन्द्रिका वाल्मीकि रामायण, बघेली के लोकगीत तथा कतिपय स्थानीय कवियों द्वारा रचित कवितायें भी इस्तेमाल की जाती थीं। सतना जिले के खजुरीताल के भूषण दास की रामलीला विशेष रूप से पहचानी जाती थी। उसके अनेक इलाकों में प्रदर्शन होते थे। वहाँ की तैयारी अभूतपूर्व होती थी। सतना की रामलीला और नागौद इलाके के सिंहपुर गांव की रामलीला मण्डली दूर-दूर तक विख्यात थी। इसकी विशेषता यह थी कि सिंहपुर इलाके मुसलमान भाई इन रामलीलाओं के प्रबन्धन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते थे और आरती में चढ़ोत्तरी आदि करते थे। ये रामलीला मण्डलियाँ और इनके प्रदर्शन की कमाई का जरिया नहीं माना जाता था बल्कि कुछ लोग अपनी अभिरुचि के अनुसार काम करते थे। सिंहपुर की तरह रैगाँव की रामलीला भी प्रसिद्ध रही है। वहाँ के जागीरदार इसका प्रबंधन करते थे और रैगाँववासी तथा अन्य गांवों के लोग इसमें सहयोगी हुआ करते थे। इन दो-तीन उदाहरणों से समझा जा सकता है कि रामलीला की लोकप्रियता उस दौर में कैसी रही होगी। बघेलखण्ड अंचल के प्रायः सभी छोटे-बड़े गाँवों में रामलीला मण्डलियाँ सक्रिय रहती थीं और जब भी उन्हें अवकाश होता था, वे रामलीला का मंचन करने लगती थीं। क्योंकि उस दौर में मनोरंजन के साधन लगभग नहीं थे। इन रामलीला मण्डलियों की लोकप्रियता इतनी ज्यादा थी कि गाँव के अनेक लोग रात में रामलीला देखते थे और दिन भर खेती किसानी का काम करते थे। ऐसे रामलीला देखने वालों को 'लिलधारी' कहा जाने लगा था। एक-एक पेट्रोमेक्स पर और कुछ लालटेनों के भरोसे रामलीलायें सम्पन्न हो जाती थीं।

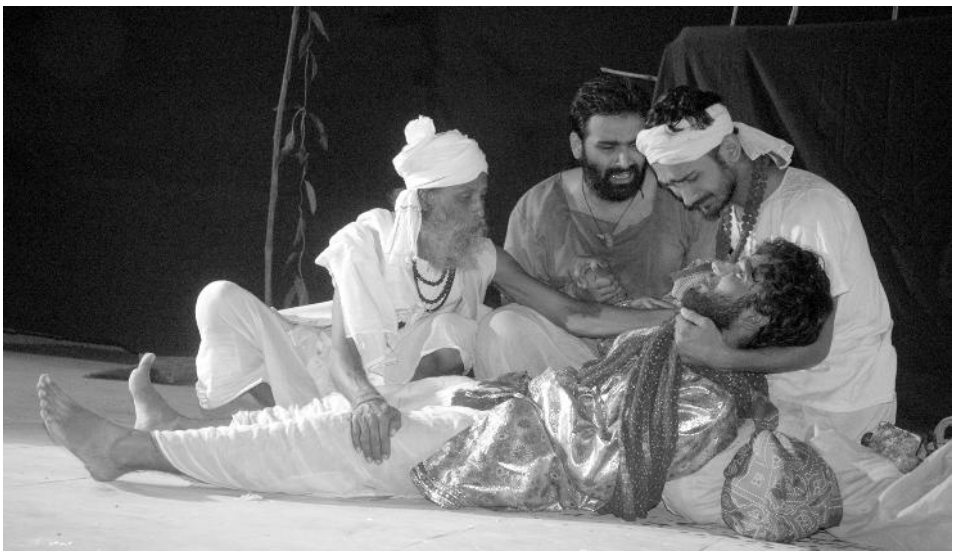

बघेली रंगमंच अभी भी बोकंइया-बोकंइया (छोटे बच्चों की तरह घुटनों-घुटनों चलने की कोशिश में) है। एक तो बघेली में नाटक एकांकी लिखे नहीं जा रहे। नाट्य लेखकों ने ज्यादातर जो प्रयोग किये हैं, वे नाटक न होकर नाट्य रूपान्तरण हैं।

आदिवासी समाजों में अभिनीत होने वाले लोकनाट्य तो हो रहे हैं। लेकिन नौटंकी या जिन्दबा और मनसुखा के मंचन अब लगभग समाप्ति की ओर हैं। यह हमारे समय की परिवर्तनशीलता को भी चिन्हित करते हैं। हीरेन्द्र की मान्यता है कि इस क्षेत्र में (रीवा) बाहर से नाटक मण्डलियाँ आया करती थीं और छोटे कस्बों में भी कभी-कभार धार्मिक नाटकों का मंचन किया करते थे। महाराजा गुलाबसिंह के जन्मदिन पर लखनऊ से नाटकों की मण्डली आती थी। कहीं ये हँसी-मजाक करने वाले नाटक करती थी, गीत-संगीत इसका प्रमुख हिस्सा होते थे। (वागर्थ, मार्च-अप्रैल, 2002, पृ.-127)

बघेली रंगमंच में बघेली बोली को आधार बनाकर कुछ प्रस्तुतियाँ होती रहती हैं। 'कौन भूमि से भारी' -मेरी दृष्टि में यह नाटक नहीं बल्कि विजयदान देथा की कहानी का एक तरह से नाट्य रुपान्तर है। वेटिंग फार गोदो, की भी यही स्थिति है। छाहुर भी मूलतः लोकनाट्य नहीं है। यह बघेली उपाख्यान है जिसके नाट्य रूपान्तर अनेक लोगों ने किये हैं और बाकायदे इनके लगातार प्रदर्शन हो रहे हैं। प्रश्न है कि क्या किसी के रूपान्तर कर देने मात्र से वह नाटक हो सकता है? सुन रे सुपिया, महतारी आदि की प्रस्तुतियाँ हुई हैं। वेटिंग फार गोदो के बघेली रूपांतर का मंचन भारत भवन भोपाल में हुआ। छाहूर के मंचन भोपाल के शहीद भवन में, रीवा में एवं अन्य स्थानों पर हुये हैं। इन्हें कई नाट्य संस्थाओं ने मंचित किया, इनके निर्देशकों में योगेश त्रिपाठी, हरीश धवन, आनन्द एवं सुनील सिंह गहरवार प्रमुख हैं। छाहुर मूलतः कथाकाव्य के अन्तर्गत उपाख्यान है। जिसका पहला प्रकाशन भगवानदास सफड़िया द्वारा सम्पादित 'सुतीक्ष्णा' पत्रिका के अंक-दो में प्रकाशित हुआ था और जिसका संचयन बाबूलाल दाहिया ने किया था। अन्य निर्देशकों ने इसे अपने-अपने अनुरूप ढाला जरूर है और उसे रंगमंच के दायरे तक ले जाने के प्रयास किये हैं। छाहुर अहीर जाति के शौर्य, पराक्रम और प्रतिरोध की कथा है। राजसत्ता से टकराने, उसे धूल चटाने की प्रतिज्ञा से यह उपाख्यान नाट्य रूपान्तर से लैस किया गया है। वेटिंग फार गोदो में कथा अंग्रेजी की है उसका भाषान्तर बघेली में हुआ है। यह मौलिकता से परे एक अनूदित और बघेली रूपान्तरित नाटक है। 'सुन रे सुपिया', हीरेन्द्र सिंह द्वारा लिखित एवं निर्देशित बघेली का पहला नाटक है। सामन्ती परिवेश और उसी भावभूमि में लेखक एवं निर्देशक ने इसे मंचित किया। तथा पहली बार शासकीय मॉडल स्कूल रीवा के मुक्ताकाशी मंच पर 24 अक्टूबर 2010 को खेला गया था। इसका लोक संगीत काफी प्रभावी रहा है। 'सुन रे सुपिया सुन' के बारे में लिखा गया है- ''हीरेन्द्र रचित यह बघेली बोली का पूर्णकालिक नाटक प्रेम की सात्विक गहनता और छद्म पाखण्डी, मेकअप, ब्राण्ड ध्वजा निशानों के प्रति उत्कट लालसा के संघर्ष को लोकतांत्रिक किस्सागोई के आलोक में देखने का प्रयत्न है। यह पुराने समय के कथानक को आल्हा गायन की शैली में सूत्रधार द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला नाटक है। इस नाटक का कोई विशेष कालखण्ड निर्धारित नहीं है।

इस नाटक पर अलग से चर्चा की गुंजाइश है। हीरेन्द्र सिंह और योगेश त्रिपाठी ने अनेक नाटक लिखे हैं। योगेश के हिन्दी नाटकों को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान भी मिली है। देखना है कि वे बघेली रंगमंच को कितना समय दे पायेंगे। हीरेन्द्र सिंह बघेली रंगमंच के प्रयोगशील निर्देशक हैं। सुन रे सुपिया के द्वारा उन्होंने बघेली रंगमंच में कुछ नया करने का प्रयास किया है। 'सुन रे सुपिया सुन' से बघेली रंगमंच को अधिक विस्तार और घनत्व मिलेगा। शायद बघेली नाट्य संसार में इसके बाद और भी प्रयोग शुरू हों।

बघेली रंगमंच अभी भी बोकंइया-बोकंइया (छोटे बच्चों की तरह घुटनों-घुटनों चलने की कोशिश में) है। एक तो बघेली में नाटक एकांकी लिखे नहीं जा रहे। नाट्य लेखकों ने ज्यादातर जो प्रयोग किये हैं, वे नाटक न होकर नाट्य रूपान्तरण हैं। चाहे 'छाहुर' हो या 'कौन भूमि ते भारी' हो। ये दोनों किसी भी तरह से मूल नाटक की कोटि में नहीं आते। ये पुरानी कथाओं या नई कथाओं के मात्र नाट्य रूपान्तरण हैं। हिन्दी का पहला नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' महाराज विश्वनाथ सिंह द्वारा लिखा गया था और उसका प्रकाशन 1871 में हुआ था। कहा यह भी जा रहा है कि आनन्द रघुनन्दन बम्बई से भी प्रकाशित हुआ था। ऐसी अनेक चर्चाएं हैं। सतना के स्वर्गीय डॉ. भगवानदास सफड़िया ने

अनेक हिन्दी नाटक और एकांकी लिखे हैं। लाल प्रदुमन सिंह, प्रो. दीपचन्द जैन और नये दौर में योगेश त्रिपाठी नाटक लिख रहे हैं। राधेशरण ने भी एकाध नाटक लिखे हैं लेकिन यह कहानी हिन्दी नाटकों की है। छुटपुट कुछ और लोगों ने भी नाटकों में हाथ आजमाया है। लेकिन बघेली में प्रायः नहीं।

हीरेन्द्र सिंह ने 'प्रथम बघेली पटकथा 'कउन भूमि ते भारी' की पृष्ठभूमि के बारे में लिखा है- ''मैंने अनेक बघेली लोककथाएँ सुनी थीं, उनमें से एक कहानी ऐसी भी थी जो अपने परिष्कृत रूप में विजयदान देथा जी के लोककथा संग्रह से प्राप्त हुई थी। तीन पृष्ठों की कहानी ढाई घंटे के नाटक के रूप में विस्तारित होनी थी। मूलकथा के साथ बघेली बोली की भावभूमि और उसकी रूह यथावत रहे, यह भी ध्यान रखना था। इसमें कुछ सच्ची घटनाएँ भी शामिल होना चाहती थीं। लिखने बैठा तो 'कउन भूमि ते भारी' नाटक के कुछ पात्र मेरे बचपन की स्मृतियों से आते दीख पड़े, कुछ ज्यादा बतियाते तो कुछ चुपके चलते पाँवों पर सवार होकर आने लगे।'' हीरेन्द्र के इस स्वीकार के पश्चात् यह तो सिद्ध ही होता है कि इस नाटक में मूलकथा विजयदान देथा की है और उसमें मिर्जापुरी ठगों और पिंडारियों के हवाले भी प्रस्तुत हैं। हीरेन्द्र इसे अपना पहला बघेली नाटक मानते हैं और उनका यह भी कहना है कि इसकी पटकथा फिल्मांकन के लिए प्रस्तावित है।

इसी तरह छाहुर उपाख्यान है जिसका प्रथम प्रकाशन डॉ. भगवानदास सफड़िया ने सतना से प्रकाशित पत्रिका 'सुतीक्ष्णा' के अंक दो में प्रकाशित किया था। कालान्तर में योगेश त्रिपाठी ने इस पर नाट्य लेख तैयार किया। एक दूसरा नाट्य लेख हरीश धवन ने तैयार किया। एक तीसरा नाट्यालेख गोमतीप्रसाद विकल ने तैयार किया। छाहुर से बने जितने भी नाट्यालेख हैं, इन सबका विधिवत प्रकाशन हुआ है। इनके मंचन भी हुए हैं लेकिन इन्हें मूल नाटक नहीं माना जा सकता क्योंकि इन सभी का मूल उत्स छाहुर उपाख्यान है। इस उपाख्यान में मूल रूपों का इस्तेमाल इन सभी नाट्यालेखों में हुआ है, छाहुर लोकगाथा है नाट्य नहीं। चक्कर मार-मारकर कई लोग इसे पढ़ते हैं, खेलते नहीं। यह वाचिक है। नाटकीय नहीं। इसमें दृश्य विधान की अनुपस्थित है। संवाद हैं पर वे कविता में भी होते हैं। लोकगाथा में भी होते हैं। आल्हा लोकगाथा है। इसके प्रदर्शन भी नहीं होते। इनके मात्र मंचन होने से इन्हें बघेली का मौलिक नाटक होने का दर्जा किसी भी तरह नहीं मिल जाता।

मेरी नजर में बघेली का एकमात्र मौलिक नाटक हीरेन्द्र सिंह द्वारा लिखित एवं निर्देशित 'सुन रे सुपिया सुन' है। इस नाटक में सामन्ती परिवेश के साथ हमारी पारम्परिक मान्यताओं के ताने-बाने भी हैं। वृक्षों को उपनयन संस्कार एवं विवाह हमारे जनजीवन में वृक्षों के महत्व को दर्शाता है। बघेली जनजीवन में लोक विश्वासों का अपना वितान है। सुन रे सुपिया सुन में कुछ दार्शनिक मुद्राओं के ताने-बाने हैं। इस नाटक के मूल में है प्रेम की मर्यादा, उत्कट, स्वप्न जीविता। सपने पूरे हों या न हों। वे एक ढाढस देते हैं। ''सपनों की अपनी स्वतः मर्यादा हो न हो पर देखने वालों की होनी चाहिए, अन्यथा परिणाम भी अमर्यादित होंगे और जीवन में जो भी स्वच्छ, पावन और सुन्दर है, उसे समझने-देखने की दृष्टि आती रहेगी।'' आज दादा स्वयंवर सिंह के आमा के बगइचा का विआह है। लरिका अस पेंड़ बड़े जबान गबरू होइगें, कब वे बउर फुलात ही। पूर गांव मेड़उर गमकै महकैं लागत है, आमा, मेर-मेर के आमा फरत हैं, पै आज तक स्वयंवर सिंह दादा आमा नहीं जुठारिन, कहिन जब तक आमा के बगइचा के विआह न होइ जई, न खाब, उ मोरे साथी टीकर के भइया ता मोरो भाई भे देखतै उपरउझा देर लगहीं।'' (बेलखंडी का कथन)

मेरी नज़र में बघेली का एकमात्र मौलिक नाटक हीरेन्द्र सिंह द्वारा लिखित एवं निर्देशित 'सुन रे सुपिया सुन' है। इस नाटक में सामन्ती परिवेश के साथ हमारी पारम्परिक मान्यताओं के ताने-बाने भी हैं। वृक्षों को उपनयन संस्कार एवं विवाह हमारे जनजीवन में वृक्षों के महत्व को दर्शाता है। बघेली जनजीवन में लोक विश्वासों का अपना वितान है। सुन रे सुपिया सुन में कुछ दार्शनिक मुद्राओं के ताने-बाने हैं। इस नाटक के मूल में है प्रेम की मर्यादा, उत्कट, स्वप्न जीविता। सपने पूरे हों या न हों। वे एक ढाढस देते हैं।

यह नाटक एक प्रश्न खड़ा करता है कि जो नहीं है, उसे हम पाना चाहते हैं और जो हमारे सामने है, जो हमारे समय का यथार्थ है उससे हम मुँह मोड़ना चाहते हैं। नाटक ही नहीं हमारे यथार्थ जीवन की यही परिस्थिति है। इस नाटक में इस्तेमाल हुई बघेली एक तरह मानक या शुद्ध बघेली है। बघेली रंगमंच के भीतर काफी प्रयोग हो रहे हैं। प्रश्न यही है कि बघेली में मूल नाटक प्रायः नहीं लिखे जा रहे। लेकिन 'सुन रे सुपिया सुन' से यह शुरुआत हो चुकी है।

बघेली में नाटक नहीं लिखे जा रहे हैं। कुछ प्रयोग अवश्य हुए हैं, लेकिन वे प्रयोग केवल प्रयोग के लिए ही हैं। प्रश्न है कि जिस बघेली प्रक्षेत्र में हिन्दी का पहला नाटक आनन्द रघुनन्दन लिखा गया हो। जहाँ हिन्दी रंगमंच अच्छा खासा सक्रिय रहा हो, प्रयास, प्रयोग, प्रगति, इप्टा, कखग, किसलय, तमस, एकता नाट्य परिषद् के अलावा अन्य प्रयोगशील नाटक संस्थाओं द्वारा नाटक खेले गये हों। नाटकों का विधिवत् मंचन हुआ हो। जहाँ पृथ्वीराज कपूर की टीम आई हो, उज्जैयिन की महारानी का प्रेक्षागृह रहा हो, जिस अंचल में हबीब तनवीर, अलखनन्दन, सीताराम सोनी, राजीव गोहिल आदि ने नाट्य कार्यशालाएँ आयोजित की थीं। 'देख रहे हैं नैन, चन्दा बेढ़नी' जैसे नाटकों की भावभूमि रही है, जिनका सीधा रिश्ता लोक जीवन से रहा है।

जाहिर है बघेली रंगमंच और नाटकों की दोहरी पृष्ठभूमि के बावजूद बघेली रंगमंच का विकास अभी, ठहरा हुआ-सा है। हाँ सम्भावनाओं की आहट लगातार आती रहती है, यह भविष्य के लिए अच्छा संकेत है।

जिसके पास जुनून नहीं
वो कलाबाज़ है, कलाकार नहीं

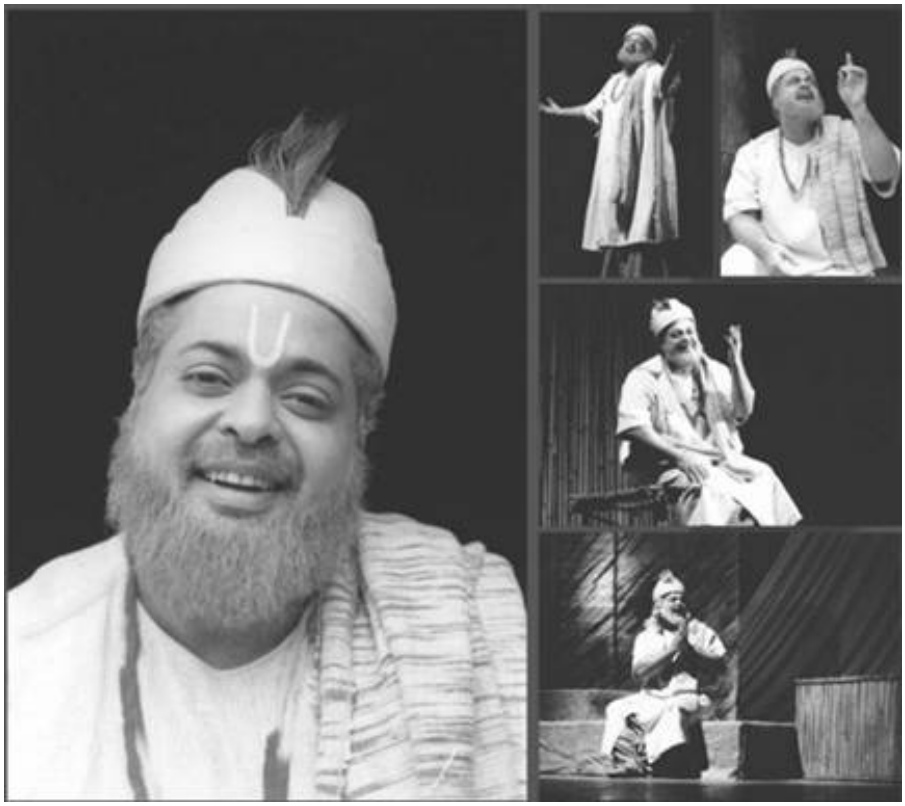

संगीतकार-अभिनेता शेखर सेन से सुदीप सोहनी का संवाद

यारी रोड, वर्सोवा, मुंबई का एक पॉश इलाका। मायानगरी में सिनेमा, संगीत, साहित्य और रंगमंच से जुड़ी हस्तियाँ इसी इलाके में रहती हैं। शांत, सुंदर और मुंबई की भीड़-भाड़ से एकदम अलग, अपने में ही खोया हुआ। शेखर सेन इसी इलाके में रहते हैं। भारत की कला बिरादरी के लिए शेखर एक सम्मान्य और स्वीकार्य नाम है। आदर्श व्यक्तित्वों के चरित्रों की एकल मंचीय प्रस्तुतियों, हिन्दी के सिद्ध कवियों की कविताओं के संगीतबद्ध गायन तथा भक्ति संगीत की आध्यात्मिकता से आत्मा के तार जोड़ने वाले शेखर से मिलना अद्‌भुत है।

ये मई की चिलचिलाती धूप और उमस भरी 24 मई की शाम है। घर पर वे अपनी आगामी प्रस्तुति 'सूरदास' की रिहर्सल कर रहे हैं। बीच-बीच में चाय और हल्की बातचीत के साथ शेखर मेरे आने का मंतव्य जानते हैं। रिहर्सल के बीच में आकर और डिस्टर्ब करने पर मुझे होने वाले 'संकोच' को ताड़ कर और फिर कुछ सवाल-जवाबों के साथ मुझे थोड़ा रिलैक्स करते हैं। यूं मुंबई की साहित्यिक बिरादरी 'चौपाल' के मंच पर शेखर से मुलाकात मुझ पर अब भी तारी है। वे एक-एक कर के सूरदास के प्रसंगों और उनकी रचनाओं को गाते हुए अपने अनुभवों को साझा करते हैं। मैं अपने आप को खुश किस्मत मान रहा हूँ कि सूरदास की जिन रचनाओं को संगीतबद्ध करके गा रहे हैं उनमें से कुछ मुझे भी याद हैं। कुल डेढ़ घंटे की रिहर्सल के बाद हम लोग औपचारिक बात करना शुरू करते हैं। मेरे सवालों के पहले ही वो अपनी जीवन-यात्रा के पन्ने पलटने लगते हैं।

'मैं रायपुर के बंगाली परिवार में पैदा हुआ। घर में ही संगीत का माहौल था। फिर बचपन में छुट्टियों में कोलकाता जाना होता था। हमारा पूरा परिवार एक साथ थिएटर देखने जाता था। उस समय मई-जून में होने वाले नाटकों के लिए जनवरी में ही टिकट बिकना शुरू हो जाते थे और यहाँ तक कि शो उसी समय फुल हो जाते थे। उस दौरान वहाँ उत्पल दत्त, शंभू मित्रा, अजितेश बंधोपाध्याय, अरुण मुखर्जी आदि के कई नाटक देखे जिनमें से अरुण मुखर्जी का नाटक 'जगन्नाथ' तो स्मृति में अब तक अंकित है। मुझे लगता है मेरी कल्पना की पराकाष्ठा थी उन नाटकों में।

फिर रायपुर में हबीब तनवीर साहब की एक वर्कशॉप में हिस्सा लिया। जयंत देशमुख, अशोक मिश्रा, मैं आदि कई मित्र उस वर्कशॉप में शामिल हुए। उन्होंने 'भगवदज्जुकम्' की रिहर्सल करवाई थी। शो शुरू होने के ठीक पहले तक किसी को ये नहीं मालूम था कि नाटक में कौन किस पात्र को निभाने वाला है। सभी को पूरा नाटक और किरदार याद थे। सिर्फ वो जानते थे कि किससे कौन सा पात्र करवाना है। हबीब साहब की उस वर्कशॉप में समझ आया कि किसी नाटक में एक मिनट के पात्र की भी क्या वैल्यू है? भले ही कोई नौकर का किरदार हो मगर उस एक मिनट के लिए तो मंच पर संवाद बोलता वो नौकर ही नायक होता है। इसी बात ने आगे चलकर मेरे लिए अपने रास्ते खोजने और अपनी ज़मीन खुद तैयार करने में अहम भूमिका निभाई। संगीत में भी ऐसा ही होता है भले ही आप संगत कर रहे हैं लेकिन अगर आपको पूरी सिम्फनी पता है तो आप अपना पार्ट प्ले करते हुए चमत्कार कर सकते हैं। हबीब साहब की वर्कशॉप के बाद ही सही मायने में नाटक समझ आया। उसके पहले रायपुर में हम दोस्तों ने मिलकर पी.टी.सी. यानि पीपुल थिएटर कम्बाइन बनाया था, जैसे इप्टा वैसे ही पी.टी.सी.! हालांकि शायद ही नाटक का मतलब पता हो मगर

उत्साह तो जरूर था। पहले हर शहर में नाटक के लिए पागल लोग हुआ करते थे और तब नाटक सुविधाभोगी भी नहीं था, मतलब कि जुनून था कुछ करने का, सीखने का।''

तो फिर मुंबई कैसे आना हुआ? और थिएटर से जुड़ना कैसे हुआ?

''मुंबई तो मैं संगीत निर्देशक बनने आया था। शुरुआत फिल्मों से की, मगर फिल्में शुरू होकर बंद हो गयीं। पहला मकसद तो यही था कि घर कैसे चलाएँ? तो गाना शुरू किया। फिर सोचा कि कुछ सार्थक गाया जाए। शुरू से ही हिन्दी साहित्य में रुचि थी और गाता तो था ही। पहला कार्यक्रम तैयार किया 'दुष्यंत ने कहा था'। ये सन् 84 की बात है। भाईदास हॉल में कार्यक्रम हुआ। कमलेश्वर जी ने संचालन किया था। मेरे पास तो उन्हें देने के लिए पैसे भी नहीं थे। कार्यक्रम सम्पन्न हुआ, बेहद सफल हुआ और सभी ने मुक्त कंठ से सराहना भी की। मगर उसके बाद कोई काम नहीं मिला, लेकिन उस कार्यक्रम के बाद मैं हर साल इसी तरह के कार्यक्रम देने लगा। कोई भी एक विषय चुनता और उस पर साल भर खूब शोध करता, धुन बनाता और प्रस्तुति देता। सन् '89 तक मैं 'मध्य युगीन काव्य', जिसमें घनानन्द, रसखान, भूषण जैसे कवियों के छप्पय, सवैया आदि थे के अलावा, 'मीरा से महादेवी तक', 'पाकिस्तान का हिन्दी काव्य' जैसी प्रस्तुतियाँ दे चुका था।

इन सभी का मुझे अद्‌भुत प्रतिसाद मिला। हालांकि प्रशंसा खूब मिली मगर हिन्दी समाज की एक कमजोरी है कि उसे स्तर के कार्यक्रम मुफ्त में चाहिए। तो मेरे भी सारे कार्यक्रम निःशुल्क ही होते थे। इसी बीच शादी हो चुकी थी, आजीविका के लिए कुछ तो करना था। फिर मेरी धर्मपत्नी ने मुझसे कहा कि मैं काम तो अच्छा कर रहा हूँ मगर इसी काम के साथ कुछ नाम हो जाए तो मेरे काम की वैल्यू रहेगी। तो अब तक तो हाल ये था कि घर जला के तमाशा देखने वाली स्थिति थी। इसी बीच भक्ति संगीत और इसी तरह के कुछ गैर-फिल्मी कामों में कैसेट, एल्बम और सीडी निकल गए थे। सिनेमा से मोहभंग हो चुका था। मैं बाजार में तो था पर बिकाऊ नहीं था। हालांकि शुरुआत में सभी गायकों को किसी और गायक के गीत गाने ही पड़ते हैं मगर अपने कम्पोजीशन्स और कार्यक्रमों के मुझे दो फायदे हुए। पहला तो ये कि मेरी अपनी बनाई हुई रचनाओं का एक भंडार बन गया और दूसरा मेरी अनसुनी रचनाएँ इस तरह मैंने लोगों को सुना दीं। फिर इन्हीं प्रस्तुतियों के कारण देश-विदेश में शो होने लगे। अमेरिका, कनाडा, हॉलैंड, इंग्लैंड आदि देशों में प्रस्तुतियाँ दीं।''

मैंने टोकते हुए अपना नौसिखियापन उन पर एक सवाल के साथ जाहिर किया, मतलब ये कि आप चल निकले?

''हाँ वो तो था मगर व्याकुलता अब भी बनी हुई थी। होता ये था कि अपनी प्रस्तुतियों पर मैं बहुत शोध करके, मेहनत के साथ डूबकर गाता था। शब्दों या भावनाओं को समझकर गाता था पर मुझे लगता कि सुनने वालों तक मैं कविता या भजन का विचार संप्रेषित नहीं कर पा रहा हूँ। यानि जिसे मैं डूबकर और समझ कर गा रहा हूँ वो दरअसल सुनने वाले को बस छूकर निकल जाता है। तो फिर सोचा कि इसे और प्रभावकारी कैसे बनाया जाए? तब विचार आया कि अगर किसी कथा में नाटक के माध्यम से गीत को सही जगह पिरो कर, गूँथ कर संगीत के साथ पेश किया जाए तो शायद लोगों को ज्यादा अच्छे से अर्थ समझ में आएगा। अब क्योंकि बचपन से रामचरित मानस की कई-कई चौपाइयाँ याद थीं, और उन्हें गाता भी आ रहा था और नागर जी का उपन्यास 'मानस का हंस' भी स्मृति में था तो सन् '97 में 'तुलसीदास' लिखना शुरू किया। कुछ एक-तिहाई कथा-गायन लिख चुका था तो वही मैंने धर्मवीर भारती जी को सुनाया और उन्हें कहा कि बाकी तो मेरे दिमाग में बिल्कुल फिट है। उन्होंने कहा कि जब तक कागज पर पूरा नहीं उतरता तब तक मैं नहीं मानूँगा। तो फिर लिखना शुरू किया और पूरा लिखने के बाद उन्हें दिखाया। मुझे लगता था कि किसीअच्छे अभिनेता यानि कि अन्नू कपूर या रघुवीर यादव से बोलूँगा कि आप इसे कर दो। भारती जी ने कहा कि ये तो सबसे ज्यादा तुम्हारे ही करीब है, तुम खुद ही क्यों नहीं इसे करते! तुम ही करो, मैं थोड़ा घबराया, एक तो एक पात्रीय संगीतमय नाटक, हिन्दी साहित्य, और फिर 'तुलसीदास' का पात्र जिसे कि नाटक में तो कहीं पर भी प्रस्तुत नहीं किया गया था। यानि मेरे लिए सब कुछ माइनस था। मैंने सोचा करते हैं। फिर चूंकि मैंने ही लिखा था, संगीत और गायन भी मेरा, अभिनय भी मेरा और निर्देशन भी तो जब करने के लिए मित्रों को बताया तो उन्होंने कहा कि जब सभी तुम ही कर रहे हो तो एक आईना भी रख लो यार! दर्शक भी तुम ही बन जाना। खैर, शुरुआत हुई और जैसे डिजास्टर खर्च ज्यादा और आमदनी तो नहीं के बराबर। साल भर में जितनी भी जमा पूँजी थी वो सब खत्म हो चुकी थी। इस बीच घर का जो सामान बेच सकता था वो बेच चुका था, फिर भी लगा रहा और काम करता रहा। इसके कारण एक चीज जो अच्छी हुई वो ये कि मेरा एक दर्शक वर्ग तैयार हुआ। फिर 'कबीर' किया। हालांकि शुरु में लोगों ने इसे सांप्रदायिक कहा और मुझे कोई भी सभागार नहीं मिला पर फिर जब शो हुआ तो सूफीवाद को पसंद करने वाले लोग प्रसन्न हुए। हर वर्ग

सन् '97 में 'तुलसीदास' लिखना शुरू किया। कुछ एक-तिहाई कथा-गायन लिख चुका था तो वही मैंने धर्मवीर भारती जी को सुनाया और उन्हें कहा कि बाकी तो मेरे दिमाग में बिल्कुल फिट है। उन्होंने कहा कि जब तक कागज पर पूरा नहीं उतरता तब तक मैं नहीं मानूँगा। तो फिर लिखना शुरू किया और पूरा लिखने के बाद उन्हें दिखाया। भारती जी ने कहा कि ये तो सबसे ज्यादा तुम्हारे ही करीब है, तुम खुद ही क्यों नहीं इसे करते!

दरअसल हमारे समाज में पिता की भूमिका की अनदेखी ही की गयी है या उन्हें एक 'विलेन' जैसा ही समझा गया है और अक्सर होता यही है कि 'नायक' की भूमिका में माँ ही होती हैं। पिता के साथ मतभेद को हमेशा उनकी नकारात्मकता में लिया गया। मगर जब पिता दूर चले जाते हैं तो उनकी उपस्थिति का अहसास होता है और उम्र के साथ आप पिता की तरह ही व्यवहार करने लगते हैं।

के लोग इसे देखने आए। मुंबई में प्रस्तुतियों में 30-40 पारसी समुदाय के लोग आते। मुस्लिम भी होते और क्रिश्चियन भी। मुझे याद है 'विवेकानंद' के भी शो को देखने 200 'नन' आई थीं, अपनी वेशभूषा में। फिर यही प्रस्तुतियाँ वेस्ट इंडीज, सूरीनाम, शारजाह, अफ्रीका, सिंगापुर आदि कई देशों में भी पसंद की गई।

'कबीर' सफल होने के बाद मुझे अच्छा खासा पैसा भी मिलने लगा। मैं तब यही सोचता था कि हर आदमी अपना एक मूल्यांकन करता है। मुझे लगा अपनी योग्यता से अधिक मुझे मिल रहा है। होता यही है कि इस कारण एक तरह का घमंड आने लगता है पर मैं ये सोचता कि शायद मुझे अच्छे उद्देश्य के लिए पैसा मिल रहा है तो मैं वहाँ भी इन प्रस्तुतियों को देने लगा जहाँ नाटक अब तक पहुँचा नहीं है। मेरे ये प्रदर्शन निशुल्क होते। 'काशी से मगहर' जो कबीर की शायद अंतिम यात्रा थी मैंने वहाँ के हर गाँव में अपने खर्च से 'कबीर' की प्रस्तुतियाँ दीं। गाँव में न तो सुविधाएं होती, न मंच न ही कोई अन्य तकनीक सब कुछ खुद ही करना पड़ता। मुझे खुशी है कि आज तक बगैर स्पोनसरशिप के मैंने ये प्रस्तुतियाँ दी हैं। फिर 2004 में 'विवेकानंद' किया। अब तक एक पात्रीय नाटक करके मैं अपने दर्शक और जगह बना चुका था।

'आपकी एक और प्रस्तुति है 'साहब', ये कौन सा चरित्र है? क्या कोई संत है या फिर...'

मेरे इस सवाल को बीच में काटकर शेखर कहने लगे 'दरअसल 'साहब' कोई एक किरदार नहीं बल्कि हम सबके अंदर रहने वाला किरदार है और इसका कथानक पिता-पुत्र की कहानी पर आधारित है। दरअसल हमारे समाज में पिता की भूमिका की अनदेखी ही की गयी है या उन्हें एक 'विलेन' जैसा ही समझा गया है और अक्सर होता यही है कि 'नायक' की भूमिका में माँ ही होती हैं। पिता के साथ मतभेद को हमेशा उनकी नकारात्मकता में लिया गया। मगर जब पिता दूर चले जाते हैं तो उनकी उपस्थिति का अहसास होता है और उम्र के साथ आप पिता की तरह ही व्यवहार करने लगते हैं। तो मैंने पिता-पुत्र के सम्बन्धों पर एक कथानक लिखा जिसमें मुझे लगा कि समाज में आई इस टूटन के बारे में कुछ बात करूँ और उसे प्रस्तुत करूँ। फिर नाम के साथ एक समस्या होती है कि लोग नाम के साथ एक पूर्वाग्रह से जुड़े होते हैं, जैसे विवेकानंद से शिकागो की छवि सबसे पहले सामने आती है, तुलसीदास से संत की आदि इसलिए मैंने इसे 'साहब' का नाम दिया जो हर आदमी के साथ जुड़ता है। मेरे इस प्रयोग को भी काफी पसंद किया गया। तो अब तक मैं अपने सारे नाटकों की कुल 751 प्रस्तुतियाँ दे चुका हूँ। अगले महीने मुंबई में 'सूरदास' की जो प्रस्तुति प्रस्तुति होगी वो 752 वीं प्रस्तुति होगी मेरी।

मैंने भारतीय परिवेश और कला के सम्बन्धों की पड़ताल और इस पर उनका नज़रिया जानना चाहा उन्होंने मुझसे प्रतिप्रश्न किया कला क्या है?

फिर कुछ गंभीर होकर शेखर कहने लगे- ''दरअसल पश्चिमी शिक्षा के कारण हमारे जीवन के मूल अर्थ बदल गए। विद्वान हमारे यहाँ किसी एक विषय के नहीं थे। गाँव में जो बुजुर्ग होते थे वो व्यावहारिक रूप में ज्योतिष शास्त्र, भूगोल, गणित आदि सब विधाओं के जानकार होते थे। यह 'विशेषज्ञ' की अवधारणा ही पश्चिमी है और यही हमारे यहाँ कलाओं और कलाकार के संदर्भ में देखा जाता है कि अगर कोई अभिनेता है तो गायक नहीं हो सकता, लेखक है तो अभिनय नहीं कर सकता। गायन के संदर्भ में लें, मेरे हिसाब से गायन में अगर अभिनय नहीं है तो गायन निष्प्राण है। लता जी जब 6 साल की पद्मिनी कोल्हापुरे के लिए 'यशोमती मैया से बोले नंदलाला' गाती हैं तो आप बताइये कि वो क्या गाते वक्त अभिनय नहीं कर रही हैं? अब मुझे कोई कहता है कि यार तुम बहुत अच्छा अभिनय करते हो तो मैं कहता हूँ वास्तव में हम सब अभिनेता ही हैं और अपने-अपने जीवन में अपनी-अपनी भूमिकाओं के साथ अभिनय करते हैं। चाहे पुत्र के रूप में या पति के रूप में या पिता या मित्र के रूप में। बस किसी का अभिनय दिखाई देता है और किसी का नहीं। हम अभिनय के बिना तो जीवन जी ही नहीं सकते।

मतलब यह कि कला जीवन में ही है और हमारे यहाँ कला जीवन से जुड़ी है। अब मनोरंजन को ही लें। पहले भारत में पूरा परिवार मेला घूमने जाता था या नाटक-नौटंकी देखने जाता था। अब जो हो रहा है सिनेमा में या मनोरंजन के नाम पर जो भी जिसे आप परिवार के साथ या बच्चों के साथ नहीं देख सकते तो मेरी नजर में

वो मनोरंजन नहीं है। बिना परिवार के अकेले मनोरंजन कैसा? तो कम से कम अपने नाटकों के लिए मैं तो यही करता हूँ जिसे सब लोग सबके साथ देख सकें। इसी के संदर्भ में यह भी कि पहले हमारे यहाँ दायित्वबोध था जो जीवन से भी जुड़ा था इसलिए वो नाटक में भी दिखता था। हमारा मनोरंजन पूरी भारतीयता को समाविष्ट करता था। इसलिए बोस्टन के एलीट क्लास से लेकर बलिया और लंदन से लेकर कोपागंज के गाँव तक मैं अपने दायित्वबोध के साथ मनोरंजन की कोशिश अपनी प्रस्तुतियों में करता हूँ।

बातचीत के गूढ़ होने की दिशा में मैंने उनसे भारतीय संस्कृति और नाट्य विधा के संबंध में जानने की कोशिश की।

वे कहने लगे- ''नाटक मेरे लिए विश्व की सबसे पुरानी ललित कला है। मैं इसे आदि कला मानता हूँ, जो अपने आप में पूर्ण है। आप देखिए कि आज से करीब दो हजार साल पहले नाट्यशास्त्र लिखा गया और शास्त्र तभी लिखा जाता है जब कोई चीज पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी हो। मैं तो संगीत को भी नाटक का ही अंग मानता हूँ। बिना संगीत का नाटक भी पश्चिम की अवधारणा है। अब आप ही बताइये हमारे यहाँ सोलह संस्कारों से लेकर लोक की हर अनुभूति के लिए गीत हैं, जन्म से लेकर मृत्यु तक यानि उल्लास से लेकर शोक तक गीत-संगीत हमारी परंपरा में हैं। यहाँ तक कि हमारे भगवानों की कल्पना भी हम बगैर वाद्य-संगीत के नहीं करते। संगीत की देवी सरस्वती, शंकर जी के हाथ में डमरू तो नारद जी के हाथ में वीणा। अगर आज के पेशेवर समाज से थोड़ा हटकर सोचें तो यह कि संगीत या कलाएं ईश्वर की आराधना के लिए थीं। हमारे यहाँ नाद और शब्द को ब्रह्म माना गया है।

मेरे लिए तो नाट्यकर्मी भरत मुनि का प्रतिनिधि है। मैं भी यही मानता हूँ कि अलग-अलग समय में लोग अपनी-अपनी तरह से एक ही बात कहते हैं क्योंकि जीवन में नया तो कुछ भी नहीं। सब अच्छा पहले ही लिखा जा चुका है, कहा जा चुका है। मैं भी कोई नयी बात नहीं कह रहा हूँ पर इस तरीके से कह रहा हूँ यानि कि बस कलेवर नया है।

नाटक के संबंध में ये कि मेरे हिसाब से नाटककार को 'वाज्ञेयकार' होना चाहिए; जो लिख सके, संगीत की रचना कर सके, तर्ज बना सके, गाए और इस तरह अपनी बात कह सके। यानि पराश्रित न रहे। नाटक को भी ऐसा ही होना चाहिए, उसे अपने पांव पर ही जनता तक पहुँचना चाहिए। फिर हमारी परंपरा में भी यही है पंडवानी से लेकर बाउल और नाचा से लेकर कीर्तन तक जिसमें सभी लोग सब काम करते हैं। मुझे यही लगता है क्योंकि जब तक हमारी कला जीवन से जुड़ी थी लोग भी जुड़े थे। आज नाटक जीवन से जुड़ा नहीं है। इसलिए लोग सिनेमा देखते हैं। मगर सच ये भी है कि लोग नाटक देखना चाहते हैं और ये बात उन लोगों से अच्छी कोई नहीं बता सकता जिन्हें एक बार नाटक का नशा चढ़ गया वो उसी में रम गए, जैसे हबीब साहब, कारन्त जी, सत्यदेव दुबे आदि।''

तब कला या कलाकार की पूर्णता क्या है या किसमें है?

मैंने जोड़ा। उन्होंने प्रतिप्रश्न किया आप बताइये आज से 800 साल पहले भारत का बादशाह कौन था। मैंने अपना ज्ञान उन पर लादने की कोशिश की, कि शायद मुगल! बहुत ही सहज होकर उन्होंने कहा, 'आज से आठ सौ साल पहले अमीर खुसरो बादशाह थे, फिर कबीर, सूर, तुलसी, गालिब जैसे लोगों ने राज किया। और उससे भी पहले वो लोग जो अनाम हैं मगर जो अजंता में चित्र बना चुके हैं। यानि कि आज तक जिंदा हैं।''

कुछ याद करके शेखर कहने लगे- ''कहीं पढ़ा था कि एक पुस्तक की उम्र किसी इमारत से भी ज्यादा होती है। कॉमर्स के आने से और पश्चिमी सभ्यता के कारण रिकॉर्ड, नंबर, रैंकिंग जैसी चीजें बाजार में चलन में आ गयीं। सच पूछिये तो भगवान ने सभी को सब कुछ दिया है, जो काम मैं कर सकता हूँ चाहे वो परिवार का ही क्यों न हो तो वो काम मेरे अलावा कोई भी कर ही नहीं सकता है। मतलब यह कि ईश्वर के हिसाब से हम सब नंबर वन हैं। ये हमारा दुर्भाग्य है कि देने वाले ने सब दिया मगर हम उसका उपयोग ही नहीं कर रहे। हम जगजीत सिंह 'जैसा' गाना चाहते हैं या पिकासो 'जैसी' पेंटिंग बनाना चाहते हैं। बाजारवाद के कारण सोना पीतल बन कर खुश है। लोग बिकना चाहते हैं और खुश होना चाहते हैं। हमारी यही कमी है कि हम पाना चाहते हैं और उसके लिए खोना कुछ भी नहीं चाहते। अगर खोने की तैयारी नहीं तो पाना उपलब्धि नहीं है। अगर आपके पास खोने को नहीं है तो वो आदर्श स्थिति नहीं है। कला 'जानमारी' है, जीते जी मरने की तैयारी। और अगर आपके पास जुनून नहीं है तो फिर मेरे हिसाब से वो कलाबाज है, कलाकार नहीं।

घड़ी में रात के दस बज चुके थे, अंतिम सवाल मैंने पूछा बात-बात पर अतीत ही क्यों?

हँसकर कहने लगे, ''धनुष पर जब तीर चढ़ाते हैं तो प्रत्यंचा को खींच कर उसे छोड़ा जाता है, हमारे आगे बढ़ने के सारे रास्ते अतीत से हैं, और आगे बढ़ना है तो अतीत में जाना ही होगा।'' थोड़ा सा मुस्कुराए और कहने लगे, ''तो बस हुआ मेरा ज्ञान, अब मुझे खाना भी बनाना है, श्रीमती जी मायके गयी हैं।''

घड़ी ने रात के दस बजा दिये थे, विदा लेकर बाहर निकला। मुझे लगा कहीं मुंबई की भीड़भाड़ में अब भी शांति को महसूस कर पा रहा हूँ।

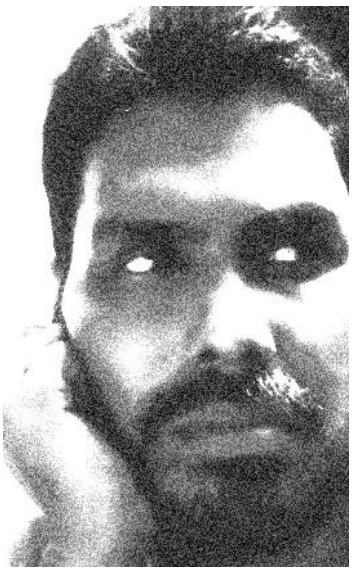

रंगमंच जुगाड़ तंत्र चालू आहे

रंगकर्मी अनिल रंजन भौमिक से यश मालवीय की एक ग़ैररस्मी बातचीत

'ग्रुप थियेटर' की जगह अब 'जुगाड़ थियेटर' ने अपना पैर पसार लिया है। जुगाड़ से प्रोज़ेक्ट प्राप्त कर लो। जुगाड़ से अभिनेता/अभिनेत्री उपलब्ध हो जाते हैं। जुगाड़ रंगमंच इस समय खूब फल-फूल रहा है। लेकिन यह स्थिति भी बहुत दिनों तक नहीं चलेगी। मेरा मानना है जब तक आपका अपना ग्रुप नहीं होगा, ग्रुप में अपने लोग नहीं होंगे, तब तक रंगकर्म तो नहीं हो सकता बाकी जो होता हो, होगा। ....जुगाड़ तंत्र चालू आहे।

जब तक इंसान जीवित है तब तक रंगमंच ज़िंदा रहेगा। रंगमंच कभी भी खत्म नहीं हो सकता। फिल्मों में आने पर भले ही पारसी रंगमंच खत्म हो गया हो, लेकिन ग्रुप थियेटर का प्रादुर्भाव हुआ। ग्रुप थियेटर ने पूरे भारत वर्ष में तहलका मचाया। बंगाल और महाराष्ट्र इसके सशक्त उदाहरण हैं। आज इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के आ जाने पर दर्शकों का अभाव अवश्य है। लेकिन यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रहेगी। लोग घरों से निकलना चाहते हैं। अच्छी प्रस्तुतियों में आज भी दर्शकों की कमी का रोना नहीं है। जरूरत है तो रंगकर्मियों में कमीटमेंट की। थियेटर जीवंत रंगकर्म है। एक ही समय में दर्शकों एवं अभिनेताओं की उपस्थिति अनिवार्य है। फिल्म, टी.वी. में यह सुविधा नहीं।

●●●

आज रंगमंच के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए तमाम ग्रॉन्ट हैं। थियेटर में पैसा बहुत आ गया है। एक-एक प्रस्तुति के लिए नये-से-नये रंगकर्मियों को लाखों रुपये की ग्रॉन्ट मिल रही है। लेकिन सच में देखा जाये जो यहीं से रंगकर्मियों के मध्य संघर्ष कम होता जा रहा है। अपनी सारी प्रतिभा जोड़-तोड़ की राजनीति में, ग्रॉन्ट प्राप्त करने में चली जा रही है। मैं ग्रॉन्ट का विरोधी नहीं हूँ। रंगकर्म कब तक संघर्ष करता रहेगा। लेकिन ग्रॉन्ट का सही सदुपयोग होना चाहिए। मात्र प्रस्तुति तक ही ग्रॉन्ट सीमित नहीं होना चाहिए। बल्कि कलाकारों की पारिश्रमिक के अलावा अधिक से अधिक प्रस्तुति पर जोर देना चाहिए। लेकिन हो इसका उल्टा रहा है। एक प्रस्तुति, तक ही सीमित रख रहे हैं रंगदल अपने आपको।

●●●

आज रंगमंच में संस्थायें हैं, निर्देशक हैं परन्तु अभिनेता और अभिनेत्रियाँ नहीं हैं। हर दूसरा आदमी स्वयं में एक संस्था है। जो सिर्फ प्रोजेक्ट के लिए ही काम कर रहे हैं।

●●●

सीखने से ज्यादा सिखाने की प्रवृत्ति है। शार्टकट से कुछ हासिल नहीं होगा। न धन, न यश, न कीर्ति और न ही और कुछ।

●●●

ग्रुप तो हैं लेकिन उसमें अभिनेता, अभिनेत्री नहीं। प्रोजेक्ट मिलते ही तोड़-फोड़ की राजनीति चालू हो जाती है। इस कारण किसी तरह एक प्रस्तुति तो हो जाती है लेकिन अगले के लिए वे अभिनेता दुबारा उपलब्ध नहीं होते। वे अन्यत्र किसी दूसरी संस्था के प्रोजेक्ट में अपना कमीटमेंट कर देते हैं। यह सिलसिला इधर ही शुरू हुआ है।

'ग्रुप थियेटर' की जगह अब 'जुगाड़ थियेटर' ने अपना पैर पसार लिया है। जुगाड़ से प्रोजेक्ट प्राप्त कर लो। जुगाड़ से अभिनेता/अभिनेत्री उपलब्ध हो जाते हैं। जुगाड़ रंगमंच इस समय खूब फल-फूल रहा है। लेकिन यह स्थिति भी बहुत दिनों तक नहीं चलेगी। मेरा मानना है जब तक आपका अपना ग्रुप नहीं होगा, ग्रुप में अपने लोग नहीं होंगे, तब तक रंगकर्म तो नहीं हो सकता बाकी जो होता हो, होगा।

●●●

जुगाड़ तंत्र चालू आहे - इसी जुगाड़ ने सारे रंगकर्म को इस स्थिति पर ला दिया है जहाँ दर्शक हताश, निराश और हतप्रभ है वह अपने आपको ठगा सा महसूस कर रहा है।

●●●

मेरा प्रशिक्षण पर ही ज्यादा जोर रहता है। इससे मैं स्वयं प्रशिक्षित होता रहता हूँ। मैं चालीस वर्ष से रंगमंच से जुड़ा हूँ आज भी एक विद्यार्थी की तरह अपने को प्रशिक्षित करता रहता हूँ।

●●●

यह सही है कि मेरे समकालीनों में अधिकतर को संगीत नाटक अकादमी सम्मान एवं साहित्य अकादमी सम्मान प्राप्त हो चुका है। लेकिन मैं सम्मानों के लिए तो थियेटर करता नहीं। थियेटर से लगाव है। अच्छा लगता है। कुछ कहना चाहता हूँ अपनी प्रस्तुतियों के माध्यम से बस उसी में सुख मिलता है। दर्शकों की संतुष्टि ही मेरा सम्मान है।

●●●

पिछले तीस वर्षों से इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र/छात्राओं को लेकर कार्य कर रहा हूँ। विश्वविद्यालय में नाट्य विभाग न के बराबर होने से मैं उस कार्य को विद्यार्थियों के लिए करता हूँ। युवा छात्र एवं छात्राएं ही मेरी पूंजी हैं।

●●●

अक्सर हमारे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अध्यापक मित्र हंसी-हंसी में ही सही यह बात कह जाते हैं कि 'आपको तो इलाहाबाद विश्वविद्यालय को 'थियेटर में डाक्ट्रेट' दे देना चाहिए। पिछले 30 वर्षों से आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्रों को प्रशिक्षण जो दे रहे हैं। यह बड़ा काम है वह भी निःस्वार्थ।

●●●

सुनकर अच्छा लगता है कि हमारे मित्र मेरे काम को अहमियत देते हैं। मैं इलाहाबाद शहर में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के केन्द्रीय सांस्कृतिक समिति के आह्वान पर ही यहाँ के छात्र/छात्राओं को प्रशिक्षण देने सन् 1983 में आया था। एक माह के प्रशिक्षण के बाद बट्रोल्ट ब्रेश्ट के कॉककेशियन चॉक सर्किल का बादल सरकार द्वारा किया गया नाट्य रूप 'घेरा' 20, 21, 22 दिसम्बर 1983 को सीनेट हॉल में अंतरंग शैली में प्रस्तुत किया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र/छात्राओं को नाट्य प्रशिक्षण देना उन्हें राष्ट्रीय मंच प्रदान करना ही मेरा मुख्य उद्देय रहा है। इस कार्य में आज भी जुटा हूँ। प्रतिदिन प्रातः 7 बजे से प्रातः 9.30 बजे तक आप मुझे इन्हीं विद्यार्थियों के साथ परिसर में कहीं न कहीं कार्य करते हुए देख सकते हैं।

●●●

इस बात की खुशी है कि मेरे विद्यार्थी आज राष्ट्रीय क्षितिज पर अपनी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। विधु खरे, सुप्रिया शुक्ला, विश्वजीत प्रधान, अजीत बहादुर, दानिश इकबाल, शांति भूषण, राजेश राम सिंह आदि रंगमंच से ही अपनी आजीविका सुचारू रूप से चला रहे हैं और राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त कर रहे हैं। फिल्मों एवं दूरदर्शन में तो करीब 100 से अधिक प्रशिक्षणार्थी नजर आते हैं। खुशी होती है। राजेश राम सिंह (फुलवा के निर्देशक) विजय सैनी (नियति के निर्देशक) शांति भूषण (संवाद एवं पटकथा लेखक) आदि।

●●●

आजकल थियेटर प्रोजेक्ट ओरिएन्टेड हो गया है। प्रोजेक्ट है तो थियेटर करेंगे अन्यथा नहीं। अर्ज वाली बात खत्म हो गयी। जुनून खत्म हो गया। भूमण्डलीकरण एवं व्यवसायिकता ने हर कार्य को प्रभावित किया है तो रंगमंच भी इससे अछूता कैसे रह सकता है? युवा पीढ़ी को यही सब प्रभावित करता है।

●●●

इन दिनों मैं अपने आस-पास बिखरी कथाओं को जोड़ने की कोशिश कर रहा हूँ। ब.व. कारंत जी हमेशा कहते थे रंगमंच को स्थानीय होना चाहिए तभी वह ग्राह्य होगा और अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर सकेगा।

●●●

उदयन, कौशाम्बी के राजा थे। वासवदत्ता और पद्मावती उनकी पत्नियां थीं। भास ने इसी कथा पर आधारित स्वप्नवासवदत्ता की रचना की जो संस्कृत नाटकों में अद्वितीय रचना है। उन्हीं से प्रेरित होकर राधा बल्लभ त्रिपाठी जी ने 'उदयन कथा' नाटक रचा। मैंने उदयकथा एवं स्वप्नवासवदत्ता दोनों नाटकों पर कार्य किया है। आपके सहयोग से रचा है जिसमें गीत संगीत तो है ही आज का समय भी मौजूद है।

●●●

अभी उर्वशी पर भी कार्य कर रहा हूँ। पुरुरुवा-उर्वशी प्रतिष्ठानपुरी (झूंसी) की कथा है। दूधनाथ जी ने 'यमगाथा' इसी विषय पर रची है। दिनकर जी ने उर्वशी। और 'विक्रमोर्वशीयम्' संस्कृत की उत्कृष्ट नाट्य रचना है। इन्हीं सबको आधार बनाकर एक नयी कृति 'पुवर्वा' के सृजन पर आजकल काम कर रहा हूँ।

●●●

मेरा सपना 'बादल नाट्य अकादमी' स्थापित करने का है जहाँ बादल सरकार से सम्बन्धित सभी नाट्य दस्तावेज, लेख, फोटोग्राफ्स, पुस्तकालय तो होगी ही, नाट्य प्रशिक्षण का एक वर्ष का पाठ्यक्रम भी होगा। जो प्रतिभागी रंगमंच से जुड़ने के इच्छुक हैं उन्हें बादल बाबू के रंगमंच से तो परिचित होने का अवसर मिलेगा ही।

रंगकर्मी गोपाल दुबे से विक्रांत भट्ट की मुलाकात

कोई रंगकर्मी फिल्मों में जाए हर्ज़ क्या है?

विक्रांत : गोपाल जी, रंगकर्म में रुझान की क्या बुनियादी वजह रही?

गोपाल - मेरी माँ स्कूल में टीचर थीं। वे स्कूल में बच्चों को नाटक करवाती थीं। मैं छोटा था। मैं भी देखता था तो मेरी रंगकर्म की पहली अध्यापक मेरी मां ही रही है। उन्हीं की वजह से रंगकर्म में आया। खानदान में कोई और कलाकार नहीं था। स्कूल के बाद जब कॉलेज में गए तो उपेन्द्रनाथ अश्क का नाटक 'पर्दा उठाओं पर्दा गिराओं' किया। फिर हम तीन-चार कॉलेज के दोस्तों ने तय किया कि एक समूह बनाया जाए ग्रुप बनाने के बाद पहला नाटक शरद जोशी का 'एक था गधा उर्फ अलादाद खां' खेला गया।

मालवा के हैं आप, भोपाल कर्मक्षेत्र बन गया। कैसे?

- दोस्तों के साथ ग्रुप बनाने के बाद चार साल तक हम इंदौर में ही काम करते रहे। फिर जब भोपाल में भारत भवन रंगमंडल बनने की प्रक्रिया शुरू हुई। उसका समाचार पत्र में विज्ञापन प्रकाशित हुआ तो मैंने भी आवेदन कर दिया। मेरा सिलेक्शन हो गया और इस तरह से इंदौर से भोपाल पहुँच गए।

जिन दिनों की आप बात कर रहे हैं तब भारत भवन में मूर्धन्य रंगकर्मी कारंतजी की आमद हो चुकी थी। कैसा रहा पहला सामना?

- जब मैं इंदौर में काम करता था तब कभी कारंत जी का नाम सुना नहीं था। यहां रंगमंडल में ही उनसे पहली बार मुलाकात हुई। तब जाकर पता चला कि कांरत जी क्या शख्सियत है और रंगकर्म के क्षेत्र में उनका कितना नाम है। उनके साथ काम करने के दौरान काफी कुछ सीखा और जाना कि वे क्यों इतने महान थे। उनके लिए अच्छा अभिनेता, अच्छा निर्देशक या अच्छा लेखक होना बाद में, लेकिन एक अच्छा इंसान होना ज्यादा महत्वपूर्ण था। वे कहते थे कि सबसे पहले अच्छे इंसान बनो बाकि सब बाद में। समय प्रबंधन को लेकर वे बहुत सजग थे। वे कहते थे कि कलाकार को समय प्रबंधन में निपुण होना चाहिए। उसके हर कार्य में समय की लय समाहित होना चाहिए। कब एक कलाकार अपना भोजन कर ले, कब सो ले कब अपना दूसरा काम कर ले। वे कहते थे कि जब आप अभिनय के लिए रंगशाला में प्रवेश करो तो दुनियादारी की समस्याएँ बाहर ही छोड़कर आया करो। फिर वो समय सिर्फ नाटक के लिए है।

भारत भवन रंगमंडल को आप अपने कॅरियर में क्या महत्व देते हैं?

- आज जो भी कुछ मैं हूँ, वह भारत भवन रंगमंडल की बदौलत ही हूँ। रंग मंडल के दौरान किए गए कामों ने ही मेरे खून में रंगमंच भर दिया है। आज उसी को लेकर मैं चल रहा हूँ। जिस उद्देश्य को लेकर रंग मंडल बना था कि रंगमंडल के दौरान जो काम सिखेंगे और उसे अपने-अपने क्षेत्र में जाकर करेंगे । मैं आज भी उसी

कारंत जी के साथ काम करने के दौरान काफी कुछ सीखा और जाना कि वे क्यों इतने महान थे। उनके लिए अच्छा अभिनेता, अच्छा निर्देशक या अच्छा लेखक होना बाद में, लेकिन एक अच्छा इंसान होना ज्यादा महत्वपूर्ण था।

बाबूजी : गोपाल दुबे द्वारा लिखित-निर्देशित- अभिनीत लोकप्रिय प्रस्तुति।

उद्देश्य को लेकर चल रहा हूँ और काम कर रहा हूँ। कभी-कभी मजबूरी के चलते नहीं कर पाता हूँ। जहा थियेटर कम है या जहाँ बिल्कुल नहीं है वहाँ जाकर अपने प्रदर्शन करूँ यहीं कोशिश रहती है। भारत भवन में तो बहुत लोग शो करते हैं दूसरे बडे शहरों में भी शो होते ही हैं लेकिन जहाँ थियेटर नहीं है, वहाँ किए जाने चाहिए। मैं उसी कोशिश में रहता हूं।

एक दौर वो भी आया जब आपकी प्राथमिक पाठशाला यानी रंगमंडल भंग हुआ। उस हालात को आपने कैसे फेस किया?

- मैंने लॉ किया था, मैं उधर नहीं गया, जबकि परिवार से सभी उसी लाइन में हैं। जब रंगमंडल भंग हुआ तो अवाक् रह गए हम। परेशान तो हुआ मैं। पत्नी मेरी सरकारी जॉब में थी। उन्होंने बहुत सहयोग किया। तब मैने तय किया कि कोई नौकरी नहीं करूंगा सिर्फ रंगकर्म ही करना है और किया। परिवार से भी सभी ने मेरा साथ दिया उनके सहयोग से ही ये सब कर पा रहा हूँ। परिवार के कारण ही इतनी रंगयात्रा चल रही है।

माइम भी आपकी अभिव्यक्ति का माध्यम रहा है। इसके लिए कोई प्रशिक्षण लिया या स्वयं ही विकसित किया।

- शौकिया माइम करता था। खुद ही देखकर सीखता गया। बाहर का भी देखा इम्प्रूव्ह करते गए। वैसे भी थियेटर करने वाले को सभी कलाएं आना चाहिए। नाटक करना है तो गाना भी आना चाहिए। संगीत का भी ज्ञान होना चाहिए। फिर प्रेम रंजन गोस्वामी एवं मूर्ति सर की माइम वर्कशाप में भी सिखा।

एक स्वतंत्र समूह के रूप में अपने कामों को गति देना आसान नहीं। आप किस तरह मैनेज करते हैं सब कुछ?

- पहले संजय मेहताजी के साथ काम करता था। फिर तय किया कि अपना काम शुरू करना है। जब मैंने अपना ग्रुप 'भूमिका' बनाया तो कई समस्याएँ थी। पैसे की भी कमी थी। जब काम शुरू किया तो लोग आते गए। जुडते गए। मैंने शुरू से ही यह मूल्य कायम रखा कि मेरे ग्रुप में जो आर्टिस्ट काम करता है वह एक वस्तु नहीं है एक इंसान भी है। उससे थियेटर कराना सिर्फ अपना स्वार्थ नहीं है। ये भी देखना जरूरी है कि वो किस प्राब्लम में है? कैसे जी रहा है? उस पर भी ध्यान देता हूँ। उससे सिर्फ अभिनय कराना ही मेरा उद्देश्य नहीं है। थियेटर से उसे भी कुछ मिले। उसकी पर्सनल प्राब्लम क्या है, उसको भी ध्यान रखता हूँ।

आप अभिनेता के ज़्यादा करीब हैं या निर्देशक के।

- अभिनेता। जब हम रंग मंडल में थे तो सभी लोग डायरेक्शन भी करते थे। मैंने ही सबसे बाद में निर्देशन शुरू किया। पहला नाटक 1996 में 'होली' किया। इसमें अलग-अलग ग्रुप के बच्चों के साथ काम किया। फिर मैंने विवेचना, रंगशीर्ष, संभावना के लिए भी काम किया। अपने लिए मैं करता ही हूँ। मैं खुद एक अभिनेता रहा हूँ, उसके अनुभव को लेकर ही डायरेक्शन करता हूँ। मेरे लिए सबसे महत्वपूर्ण अभिनेता हैं। अभिनय और कथ्य दो मेरे लिए बहुत ही महत्वपूर्ण चीज़ है। मैं खुद अभिनेता रहा हूँ तो मैं अपने अभिनता को भी पूरी छूट देता हूँ उन्हें कठपुतली की तरह बांधता नहीं हूँ। जब कहीं प्राब्लम आती है तब उन्हें बताता हूँ। हम मिलकर काम करते हैं। अभिनेता, लेखक और निर्देशक तीनों की सहभागिता से मिलकर ही नाटक बनता है। अभी मैंने एक नया नाटक लिखा है। अमजद, मैजर और मैं। ये ऐसे ही तैयार हुआ है। सबकी भागीदारी रहती है नाटक के अंदर।

रंग मंडल बंद होने के बाद कई लोग मुंबई चले गए। आप ने कभी इस बारे में सोचा?

- नहीं, कभी भी मेरा गोल मुंबई नहीं रहा। मैंने थियेटर को ही अपना लक्ष्य रखा है। मैं थियेटर का ही अभिनेता रहा हूँ और वही काम कर रहा हूं। मुझे मुंबई न जाने का कोई मलाल भी नहीं है।

आज भोपाल में नाट्य विद्यालय है, रंग मंडल की घोषणा हुई है। आप किस रूप में देखते हैं।

- ये बहुत ही खुशी की बात है कि रंगमंडल शुरू हो रहा है। अच्छी बात है कि नए लोग आएंगे, नया काम निकलकर आएगा। क्योंकि थियेटर के अंदर युवा जो है। वही चुनौतियों को स्वीकार करते है। जो सीनियर्स है उनमें परफेक्शन तो आ जाता है पर जो क्रियेशन है वह नए लोग करते है। उनके सामने चुनौतियाँ होती हैं। मैंने कई माइम भी देखे उनमें परफेक्शन तो रहता है पर नया कुछ नहीं था। वही चीजें रिपीट होती है। सिनीयर आर्टिस्ट रिपीट करता है। मुझे भी कभी-कभी लगता है कि मैं रिपीट कर रहा हूँ। यदि मुझे ये भान हो गया कि मैं रिपीट कर रहा हूँ तो ये बड़ी चीज़ है।

आज प्रदेश में नाट्य विद्यालय भी है, ये अच्छी बात है। प्रशिक्षण जरूरी है। सिर्फ प्रतिभा से ही काम नहीं चलता है। एक बच्चे को भी बोलेंगे कि ऐसा कर दो तो वह कर देगा। प्रतिभा उसमें भी होती है। लेकिन थियेटर में प्रतिभा को निखारने के लिए एकेडमिक प्रशिक्षण जरूरी है। क्योंकि डॉक्टर अगर बनना है तो बाकायदा पी.एम.टी देना पड़ती है। सिलेक्शन के बाद पढ़कर फिर डॉक्टर बन सकते हैं। थियेटर की प्राब्लम यही है कि कोई भी आया एक नाटक किया और या तो एक्टर बन गए या फिर डायरेक्टर बन गए। बाकायदा ढेनिंग हो। अभी पढ़ा पेपर में कि अब सीबीएसई स्कूलों में भी 11वीं एवं 12वीं में थियेटर शुरू होगा। इससे थियेटर में बेशक कम लोग निकले लेकिन एक नया दर्शक वर्ग सामने आएगा।

नाट्य विद्यालय के बच्चों का भविष्य क्या है?

- कुछ लोग आते हैं इस मकसद से कि थियेटर में या फिर फिल्म में जाना है। हर व्यक्ति का अपना फैसला है। थियेटर में पैसा नहीं है। कोई रंगकर्मी फिल्मों में मुंबई जाता है तो बुरी बात नहीं मानता हूँ मैं। इसमें भला क्या हर्ज़ है?

आज भोपाल में लगभग दो दर्जन नाट्य समूह कार्य कर रहे है। नाटकों के प्रदर्शन की भरमार है। गुणवत्ता कायम है या गायब?

- बिल्कुल स्तर गिरा है। कलाकार पापुलर प्ले चुन लेता है। अब ऐसे प्ले जो एनएसडी रैपेटरी ने किए हैं। अमैच्योर थियेटर में जो नया अभिनेता आया है वो उसे कैसे करेगा। एक बड़ा ही प्रसिद्ध नाटक है 'अंधा युग' अब नया कलाकार उसे कैसे करेगा यदि उसने महाभारत पढ़ी नहीं है। अब आप कोई ग्रीक प्ले शेक्सपियर या इब्सन का चुन लें और करें तो नया एक्टर उसे कैसे करेगा? उसे सब्जेक्ट नहीं मालूम, टेक्निक नहीं पता। बस इसी वजह से क्वालिटी नदारद हुई है। शो ज्यादा हो रहे हैं, ठीक है। अभी क्या हुआ है कि मैनेजर ज़्यादा आ गए हैं। जो कल्पनाशीलता वाले लोग कम है। थियेटर को लेकर आपको दृष्टि तब तक अच्छी नहीं होगी जब तक आपकी जीवन दृष्टि कमज़ोर है। आपको जीवन को समझना पड़ेगा तब आपकी रंग दृष्टि पुख्ता होगी।

रंगमंडल शुरू हो रहा है। अच्छी बात है कि नए लोग आएंगे, नया काम निकलकर आएगा। क्योंकि थियेटर के अंदर युवा जो है। वही चुनौतियों को स्वीकार करते है। जो सीनियर्स है उनमें परफेक्शन तो आ जाता है पर जो क्रियेशन है वह नए लोग करते है।

आपका सबसे पसंदीदा निर्देशक और अभिनेता।

- पंसदीदा अभिनेता पंकज कपूर है उनको रंगमंच में मैंने कभी देखा नहीं है लेकिन वो कमाल का अभिनय करते हैं। उनकी रेंज गजब की है हालांकि आजकल लोग रेंज का गलत मतलब निकालते हैं वे जब अभिनय करते है तो वे चरित्र हो जाते हैं। चरित्र बनना और चरित्र होना दोनों में बहुत अंतर है।

आपके जीवन की कोई ऐसी भूमिका या नाटक जिसने आपके जीवन को प्रभावित किया हो।

- कई सारे रोल हैं, जो अच्छे लगते हैं। दिल से करने की इच्छा होती है। जिनमें समा जाता हूँ मै। एक प्ले है 'बाबूजी', जिसमें एक कलाकार की कहानी है। अभी एक प्ले हमने किया 'बलि और शंभू' उसमें एक केरेक्टर मुझे पसंद है। ऐसे ही ज्यां पाल सार्त्र का नाटक बेनाम जिंदगी में मैंने एक नीग्रो की भूमिका की थी। वह भी मुझे पसंद है। लोग कहते हैं कि गोपाल कामेडी अच्छी करता है। उसकी टाइमिंग अच्छी है। टाइमिंग तो गंभीर भूमिका के लिए भी अच्छी होना चाहिए। जब तक टाइमिंग अच्छी नहीं होगी तो दिल में जाकर कैसे लगेगी। मैं एक्टर हूँ मैं सब करता हूँ। ये जो बांध देते हैं कि बेस्ट कामेडी या बेस्ट सपोर्टिंग ये सब फिल्मों का ठप्पा है। थियेटर में सब करना चाहिए। इसमें कोई ठप्पा नहीं होता है।

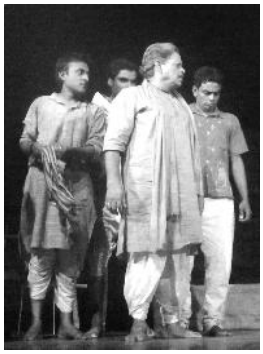

नई पौध में आप क्या संभावनाएं देखते हैं?

- कुछ लोग अच्छा काम कर रहे हैं। समझते हैं, मेहनत करते हैं। लेकिन ऐसी गंभीरता कम लोगों में हैं। रिहर्सल में लेट हो जाते हैं बहाने करते हैं। डायरेक्शन आजकल एक फैशन हो गया है। कुछ लोगों का मानना है कि डायरेक्टर बड़ा होता है। वह ज्यादा बुद्धिजीवी होता है। जबकि एक्टर डायरेक्टर दोनों को ही बराबरी का

रंगमंडल का उद्देश्य था कि सारे कलाकार सीखकर अलग-अलग रीजन में जाकर काम करें। बुदेलखंड का व्यक्ति मालवा जाए तो मालवा का व्यक्ति बुदेलखंड जाए। तभी तो आपस में इंटरेक्शन होगा।

डायरेक्शन आजकल एक फैशन हो गया है। कुछ लोगों का मानना है कि डायरेक्टर बड़ा होता है। वह ज्यादा बुद्धिजीवी होता है। जबकि मेरी समझ से एक्टर डायरेक्टर दोनों को ही बराबरी का हक होना चाहिए।

हक होना चाहिए। एक एक्टर की बुद्धिजीविता वहाँ दिखती है कि कैसे स्पीच बोलना है, प्रापर्टी का कैसे इस्तेमाल करना है। सेट और लाइटिंग का इस्तेमाल कैसे करना है। वह भले ही बहुत बात नही करे लेकिन जो रोल उसे मिला है उसे वह अच्छे से निभा जाए, यही उसकी बुद्धिमत्ता है। मेरे गुरू का मानना था कि हमेशा अच्छे रंगकर्मी बनाएं जाए। मैं जो कुछ आज हूँ इसमें उन्हीं का हाथ हैं। वही मैं बच्चों को बाँटता हूँ।

क्या आपको नहीं लगता कि रंगकर्म राजधानियों या बड़े शहरों का ही होकर रह गया है। छोटे शहरों या कस्बों से वह बिल्कुल गायब है।

- यही तो रंगमंडल का उद्देश्य था कि सारे कलाकार सीखकर अलग-अलग रीजन में जाकर काम करें। बुदेलखंड का व्यक्ति मालवा जाए तो मालवा का व्यक्ति बुदेलखंड जाए। तभी तो आपस में इंटरेक्शन होगा। संस्कृतियों का आदन-प्रदान होगा। मेरी प्लानिंग भी यही थी कि चार या पांच छोटे सेंटर छोटी जगहों पर बनाए जाए। जैसे- सागर, देवास, खंडवा, रीवा इन जगहों पर थियेटर शुरू हो। भोपाल में भारत भवन तो है ही । अब हर व्यक्ति की इच्छा होती है कि भारत भवन में शो करूँ। क्यों है ऐसा। अरे भई और भी तो जगह है, इतना बड़ा शहर है। अब बीएचईएल का दर्शक भी यहाँ आ रहा है। तो उन्हें इतनी दूर आना पड़ता है। वहां भी कोई सेंटर हो। किसी स्कूल में ही सेंटर बन जाए। तो इस तरह विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। ऐसा ही राज्य स्तर पर भी होना चाहिए। छोटे शहरों में काम करने में थोड़ी समस्याएं आएंगी लेकिन फिर शुरू हो जाएगा।

पहले नाट्य लेखकों का एक समूह था, जिन्होंने बहुत ही उम्दा नाट्यालेख दिए हैं जो आज भी मील का पत्थर हैं, आज ऐसी कोई कृति सामने क्यों नहीं आ पा रही है?

- उस दौर के लेखक रंगकर्म को समझते थे, वे रंगकर्मियों के साथ रहते थे। रिहर्सल में जाकर बैठते थे। वे समाज के ताने-बाने को उसकी नब्ज़ को जानते थे। उनका कथ्य सच्चा था। मराठी, बंगाली में नाटक इसीलिए सक्सेस हुए कि दर्शकों को लगता था कि ये मेरी कहानी है। उस वक्त रंगकर्मियों ने समाज के लिए बहुत काम किया। अब समस्या ये है कि कुछ लोग बैठ गए हैं ड्राईंग रूम में और प्ले लिख दिया। अभिनेता कैसे बोलेगा, क्या पंच आना चाहिए, नहीं पता। उनका विचार तो अच्छा है लेकिन स्पीच के लिए अनुभव नहीं है। मेरा मानना है कि अभिनेता, निर्देशक और लेखक तीनों को मिलकर काम करना चाहिए तो अलग किस्म के नाटक निकलकर सामने आएंगे।

आगे क्या योजना है आपकी?

- मैंने अभी तक लगभग 60-70 नाटक किए। कभी भी रिपीट नहीं किया। अभी भी जब कभी रिहर्सल से फुरसत मिलती है, जब शो नहीं होते हैं तब नया कुछ न कुछ पढ़ता रहता हूँ ताकि कुछ नया कथ्य दिमाग में आए। जीवन के अनुभवों को भी नाटक में डालता हूँ। कई नाटक लिखे हैं। अब बायोग्राफी को लेकर काम करूँगा, लेकिन इसमें सिर्फ बायोग्राफिकल फैक्ट ही नहीं होगा। कुछ काल्पनिकता भी उसमें रहेंगी जो चरित्र को उभारने में सहायक होंगी। जैसे 'गांधी' फिल्म देखी होगी आपने। उसमें गांधी जी को भारत भ्रमण करते दिखाया है। वे देश को घूमकर समझ रहे हैं। ये इतिहास है, ये फेक्ट है। लेकिन एक सीन देखा होगा आपने जिसमें एक पुल पर ट्रेन रूकती है और लोग नदी में नहा रहे है। वहाँ एक महिला को गांधी जी देखते हैं। वो एक ही वस्त्र पहनी है जिसे देख गांधी जी अपनी धोती उसके लिए बहा देते है वह महिला रख लेती है। तो ये फेक्ट नहीं है, यहाँ डायरेक्टर है। ये चरित्र को एक नया आयाम देता है। आजकल निर्देशकों में सौदर्यबोध की कमी पाई जाती है। कोई चीज़ सुंदर कैसे लगेगी। जैसे भव्यता दिखाने के लिए ढ़ेर सारे दीपक लगा दिए। ये ब्लाकिंग मैकेनिज्म नहीं है, तकनीक नहीं है। जैसे एक झुंड में बैठकर कई लोग ताप रहे हैं तो वो अपने आप में ब्लाकिंग है। जीवन को देखना समझना जरूरी है। अच्छा निर्देशक अभिनेता वही है जो लोगों के दिल तक पहुंच सके।

अर्से से ख़ामोश पड़े भारत भवन के रंगमंडल को फिर बहाल करने की सरकार की घोषणा ने भोपाल के रंग जगत में एक बहस को जन्म दिया है कि रंगमंडल क्यों? और रंगमंडल बनाया ही जाए तो वह कैसा हो? इन तीस सालों में भोपाल का रंगमंच कई आयामों का गवाह रहा है। संस्थाएँ बनीं और बिगड़ीं। उनमें से एक संस्था रंगमंडल भी थी... इसे पुनर्जीवित किया जा रहा है तो सवाल ज्यादा पैने हैं। ...इस नई सुगबुगाहट का जायजा ले रही है *रंग संवाद*

पड़ताल

कैसा हो भारत भवन का नया रंगमंडल!

पंकज शुक्ला

32-33 साल पहले यही समय था जब भोपाल में भारत भवन और उसमें एक 'रंगमंडल' की कल्पना आकार ले रही थी। शौकिया रंगकर्मियों के लिए यह आश्चर्य और संदेह मिश्रित समय था कि कैसे नौकरी कर रंगकर्म किया जा सकेगा। शौक पूरा होने का ऐसा समय जहाँ आर्थिक समस्याएं नहीं होंगी। कैसे होगा यह सब और क्या यह प्रयोग (जी हाँ, इसे प्रयोग ही कहा जाना चाहिए) सफल होगा? कलाकारों और रंगप्रेमियों के दिमाग में ऐसे तमाम सवाल बन-बिगड़ रहे थे। कालांतर में कई सवाल सच बन कर सामने आ गए और कई कल्पनाएँ अमलीजामा नहीं पहन सकीं। अब एक बार फिर भोपाल में रंगमंडल के गठन की प्रक्रिया जारी है और आज पिछली बार की तुलना में ज्यादा सवाल हैं। ज्यादा संदेह के साथ।

इन तीस सालों में भोपाल का रंगमंच कई आयामों का गवाह रहा है। संस्थाएं बनीं और बिगड़ी। उनमें से एक संस्था रंगमंडल भी थी... इसे पुनर्जीवित किया जा रहा है तो सवाल ज्यादा पैने हैं। 1992 में वैश्वीकरण और उदारवाद ने दुनिया बदल दी। रंगमंच भी वैसा नहीं रहा जैसा पहले था। वरिष्ठ रंगकर्मियों के संग बैठकों में कसक जाहिर हो जाती है कि अब कलाकारों में न वैसा समर्पण रहा न वैसा जज्बा। आज दो-चार नाटकों के बाद युवा टीवी-फिल्मों की ओर दौड़ लगाता है। इस नाराजगी पर प्रतिप्रश्न होता है अगर कलाकार ग्लैमर की ओर न भागे तो करे क्या? खाने जितना भी कमाए कहाँ से? रंगकर्म के लिए समर्पण मांगते हैं तो कलाकार के लिए रोटी की चिंता भी करना होगी। आज के रंगकर्म की यही तो सबसे बड़ी चुनौती है। बिना भविष्य की बुनावट किए रंगमंडल की शुरुआत करना असफलता को दोहराने जैसा होगा। जब नया रंगमंडल आकार ले रहा है तो यही सही समय है जब उसकी चुनौतियों और जरूरत पर विस्तार से बात की जाए। अगर ऐसा नहीं हुआ तो रंगमंडल कुछ लोगों के स्थापना का माध्यम तो बन जाएगा लेकिन तब इसका वृहद उद्देश्य पूरा नहीं होगा।

अर्से से खामोश पड़े भारत भवन के रंगमंडल को फिर बहाल करने की सरकार की घोषणा ने भोपाल के रंग जगत में एक बहस को जन्म दिया है कि रंगमंडल क्यों? और रंगमंडल बनाया ही जाए तो वह कैसा हो? इन सवालों के जवाब टटोलने के पहले यह जानना होगा कि आज रंगकर्म की दशा क्या है? इन दिनों रंगकर्मियों के रंगमंच छोड़ कर टीवी या सिनेमा की ओर जाने पर गहरा रही चिंताओं का कारण और समाधान क्या है? इस बात से शायद ही कोई असहमत होगा कि भोपाल में इस समय न रंगकर्म का संकट है, न अभिनेताओं का और न दर्शकों का। तमाम असुविधाओं के बावजूद खूब नाटक हो रहे हैं। रंगसमूह/रंगकर्मी एक प्रस्तुति करते हैं और दूसरी के लिए तैयारी शुरू कर देते हैं। सरकार भी उदार है। रेपर्टरी ग्रांट, फेस्टिवल ग्रांट, प्रोजेक्ट ग्रांट, अभिनेता ग्रांट इत्यादि अलग अलग प्रकार की झोलियों का मुंह रंगमंच के लिए खोल दिया है। कुछ कम-ज्यादा दर्शक भी मिल जाते हैं। रंगमंच फैशन स्टेटमेंट भी है और टेलीविजन-सिनेमा की ओर पलायन का जरिया भी है। रंग समारोह सहज हो चले हैं। सरकारी अनुदान ने ऐसा मायाजाल रचा है कि प्रस्तुतियां तो ताबड़तोड़ हो रही हैं लेकिन नाटकों और उनकी अनुभूति की गुणवत्ता पर कई सवाल हैं। इन नाटकों को देखने वाला दर्शक कब तक टिकेगा? दुखद यह है कि अनुदान मिला है तो प्रस्तुतियों का टारगेट भी मिला है और दोयम दर्जे की प्रस्तुति पर अपने ही घर-परिवार के दर्शकों ने वाहवाही कर दी। कमोबेश वैसा ही मीडिया भी है। कहीं समालोचना नहीं। इस परिवेश के बाद भी रंग निदेशक से पूछो तो तमाम संकटों का पता चलता है। इतने बरस गुजरे लेकिन भोपाल में सलीके का एक रिहर्सल स्थल तैयार नहीं हो सका।

निर्देशक यहाँ-वहाँ भटकते हैं। अगर लाभ में सबसे कम भागीदारी किसी की है तो वह है कलाकार या अभिनेता। रंगमंच का मुख्य तत्व अभिनेता कई संकटों से घिरा हुआ है। कड़ी प्रतिस्पर्धा में

टिके रहने की चुनौती, आर्थिक समस्याएं। आयोजन में प्रस्तुति स्थल का किराया, सेट, लाईट, ड्रेस, ब्रोशर, पोस्टर आदि खर्च के बाद जो बचता है वह कलाकार के हिस्से में आता है। दरअसल, 1992 के बाद से जैसे ही उदारवाद और बाजारवाद ने पैर पसारे हैं, हमारे जीवन मूल्य और जीवन को देखने का नजरिया भी बदल गया है। इन बदलावों से रंगकर्म भी अछूता नहीं रहा। अब अकेले समर्पण से बात नहीं बनती। आर्थिक मजबूत एक बड़ा पहलू हो गया है। ऐसे में फिल्म और टेलीविजन का ग्लैमर और पैसा मौका बन कर आता है तो वे लपक लेते हैं। तब राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (एनएसडी) के विद्यार्थियों का भी पहला लक्ष्य टीवी और फिल्म हो गया है तो भोपाल के कलाकारों को तो मुंबई लुभाएगी ही।

एनएसडी जैसा या कुछ और?

आज सभी के जेहन में सबसे बड़ा सवाल यही है कि आखिर नए रंगमंडल की शक्ल क्या होगी? क्या यह राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का एक रूप होगा या भोपाल में खुले नाट्य विद्यालय का विस्तार? शासन ने रंगमंडल और उसकी गतिविधियों को तय करने के लिए एक समिति बनाई है। इस सलाहकार समिति में रंगकर्मी लोकेंद्र त्रिवेदी, पापिया दास गुप्ता, आलोक चटर्जी, सतीश मेहता, संजय उपाध्याय, अतुल तिवारी शामिल हैं।

समिति सदस्य सतीश मेहता इस बात के खिलाफ हैं कि रंगमंडल को राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की सूरत दी जाए। इस प्रतिनिधि से विस्तार में अपनी कल्पना साझा करते हुए उन्होंने कहा कि एनएसडी की तरह विदेशी नाटककारों या विदेशी प्रस्तुतियों की आवश्यकता नहीं है। हमें प्रदेश की स्थानीय नाट्य विधाओं को मंच देने की जरूरत है। इसीलिए वे इस बात के पक्षधर हैं कि रंगमंडल में स्थानीय विधाओं के साथ क्षेत्रीय कलाकारों और निर्देशकों को मौका मिले। श्री मेहता का मानना है कि कलाकारों की स्थाई भर्ती करने की जगह दो साल के अनुबंध पर रखा जाना चाहिए ताकि कोई भी स्थाई वेतन को अपना अधिकार मान कर काम की गुणवत्ता प्रभावित न कर सके।

कलाकारों की फजीहत न करे रंगमंडल

श्याम मुंशी उन लोगों में शामिल हैं जिन्होंने बव कारंत जी वाले रंगमंडल के लिए आवेदन किया था और चार चरणों वाली चयन प्रक्रिया के तीन चरण सफलतापूर्वक पार किए थे। वे बताते हैं कि चौथे चरण के लिए साक्षात्कार होने थे। सभी चयनित कलाकारों से रूबरू हुए कारंतजी ने कहा कि किसी की कोई जिज्ञासा हो तो पूछ सकता है। तब श्री मुंशी ने पूछा था कि प्रशिक्षण के बाद कलाकार क्या करेंगे? तब कारंतजी ने जवाब दिया कि प्रशिक्षण को दो साल का कर देंगे। उसके बाद क्या के सवाल पर जवाब मिला यह प्रशिक्षण पांच सालों तक बढ़ाया जा सकता है। तब भी इस बात का कोई जवाब नहीं था कि प्रशिक्षण के बाद कलाकारों का क्या होगा? इस सवाल का जवाब आज भी नहीं है। श्री मुंशी का सवाल है कि जब तक कलाकारों कीआर्थिक हालात अच्छी नहीं होगी उनका मन रंगकर्म में कैसे रमेगा? बीते रंगमंडल में ऐसा लगता था कि संस्था कलाकारों का शोषण कर रही है। उन्हें कहीं और काम करने की इजाजत नहीं थी। कलाकारों का शोषण हुआ ज्यादतियाँ हुईं। आज करोड़ों का बजट है लेकिन कलाकारों के लिए पैसा नहीं है। इस समय भोपाल में सबसे ज्यादा रंग गतिविधियाँ हो रही हैं। जरूरत इस बात की है कि कुछ ऐसा काम करें जो कलाकारों के भविष्य का सुरक्षित करें और गुणवत्तापूर्ण रंगकर्म किया जा सके।

क्या टीवी के लिए हो प्रशिक्षण?

रंगमंडल के गठन की कवायद के बीच यह विचार भी रखा जा रहा है कि जब कलाकारों की मंजिल टीवी और सिनेमा ही है तो क्यों न उन्हें वहाँ की जरूरत के मुताबिक भी प्रशिक्षण दिया जाए। ऐसा होने पर इंडस्ट्री की जरूरत तो पूरी होगी ही हमारे यहां के प्रतिभाशाली कलाकारों को माध्यम परिवर्तन के कारण पीछे नहीं रहना होगा। श्री मुंशी मानते हैं कि ऐसे पाठ्यक्रम पर विचार किया जाना चाहिए ताकि हम पंगु नहीं समर्थ कलाकार तैयार करें।

छवि-संवाद

कथक नृत्यांगना शोभना नारायण से चित्रा शर्मा की वार्ता

मनोरंजन क्षणिक होता है, भक्ति की लौ देर तक जलती है

एक अनवरत सुंदर प्रक्रिया है। समय बदलता है, पीढ़ियाँ बदलती हैं और समाज में भी एक बदलाव आता है। इसी बदलाव में साधना और समर्पण भाव के कारण कलासाधक नवाचार और नए प्रभावों के साथ समाज को नई दिशा देते आये हैं। स्त्रियों को नृत्य संगीत कला से जुड़ना भी स्वीकार नहीं किया था, वहीं प्रगतिशील परिवारों के सहयोग और आत्मबल ने सितारा देवी, रोहिणी मारे, दमयंती जोशी जैसी कथक नृत्यांगनाओं को कथक का उदार और अभिन्न हिस्सा बनाया और उसी यात्रा में शामिल हुई शोभना नारायण। सांस्कृतिक परिवार में जन्मी शोभना नारायण ने जन्म के बाद गीता और रामायण सुनी और छंदों के सस्वर पाठ से संगीत के उत्स को अवचेतन में ग्रहण किया। तीन वर्ष की उम्र में कलकत्ता में नृत्यांगना साधना बोस के पास घुंघरू से पहला परिचय हुआ और वहीं से उनकी कला यात्रा का श्रीगणेश हुआ। *रंग संवाद के इस अंक में डॉ. चित्रा शर्मा की शोभना नारायण से आत्मीय बातचीत।*

चित्रा : कथक की प्राचीनता को देखते हुए कत्थक का मूल स्वरूप या प्रतिमान क्या है?

शोभना - कथा कहकर ईश्वर की आराधना करने वाले कत्थक कहलाये। कहा गया है कि कत्थक योग साधना है। इसकी मूल मुद्रा भी योग की ही है। ढाई हजार वर्ष पूर्व चौदहवीं शताब्दी के प्राकृत अभिलेख में भी कत्थकों का जिक्र है। उस काल में गंगा किनारे कत्थकों ने श्रृंगार नृत्य कर आदि नाथ की आराधना की। इस नृत्य से आदिनाथ भी भावविभोर हो गये। कथक तब से ही है, उसकी प्रस्तुति के तरीकों में फर्क आता गया। आज हम धारक कथक हैं। मतलब पात्र को धारण कर कथा कहते हैं और रसों, भावों, हस्तकों, भावभंगिमाओं के साथ कथक नृत्य को पूर्णता देते हैं। अन्यथा हम वाचक कथक कहलायेंगे।

कथक का मूल स्वरूप तो भगवान की लीलाओं का बखान कर स्तुति करना है, हाँ समयानुसार इसकी प्रस्तुत के स्वरूप में बदलाव आए। कथक का मूल स्वरूप तो भगवान की लीलाओं का बखान कर स्तुति करना है, हाँ समयानुसार इसकी प्रस्तुति के स्वरूप में बदलाव आए।

आपने स्वयं बम्बई में कुन्दनलाल गंगानी से जयपुर घराने के कत्थक की शिक्षा ली तथा बाद में पं. बिरजूमहाराज जी से दिल्ली में लखनऊ कथक को सीखा। आपका कथक का घरानों में विभाजन के विषय में क्या नजरिया है?

- देखिए कथक वहीं पनपा, जहाँ पेट्रिनिज्म रहा। मतलब जहाँ शास्त्रीय संगीत वातावरण में रहा। लखनऊ घराने के कत्थक में पं. बिरजूमहाराज के पूर्वज हड़िया तहसील के रहे, परन्तु वे लखनऊ में आकर बसे, और नवाब वाजिद अलीशाह के कला प्रेम ने सभी गुरूजनों का न सिर्फ दरबार में आश्रय दिया बल्कि स्वयं नवाब इनके शिष्य बने। अतः कथक का मूल तो जैसा पहले था वैसा ही रहा परन्तु दरबारी वातावरण मिलने से प्रस्तुति का अंदाज अलग हो गया और लखनऊ कथक के तौर पर स्थापित हो गया। जयपुर में राजामहाराजा हमेशा युद्ध में रहे और उनके भाव में वीरता रही तो वहाँ के कथक में भी द्रुतलय के साथ नृत्य करने का अन्दाज आया और ठुमरी, अभिनय कम देखने में आया और जयपुर घराने के रूप में अपनी प्रस्तुति के अन्दाज ने इसे स्थापित किया।

बनारस घराना इन दोनों घरानों का मिश्रण है। लयकारी भी है और भाव पक्ष भी। रायगढ़ कथक में रायगढ़ के महाराजा चक्रधर सिंह स्वयं कलाकार थे। इसलिए उन्होंने अपनी कल्पनाशक्ति से और प्रकृति को केन्द्र में रखकर परनों के रूप में जैसे दलबदल परन, बिजलीपरन, पक्षीपरन के रूप में र्यक्त किया और उन रचनाओं की प्रस्तुति के अपने अलग अन्दाज तथा जयपुर लखनऊ की मिलाजुली नृत्य परम्परा ने रायगढ़, कत्थक में जो विभिन्नता अर्जित की तो उसकी पहचान बनी।

घरानों में बंटने से क्या कत्थक का विकास अवरुद्ध हुआ?

-पहली बात तो ये है कि ये घराने लगभग 200 वर्ष पुराने ही हैं। हो सकता है इन घरानों की पहचान सामने आने के पहले भी कभी और घराने रहे हों। हर युग में प्रतिभावान लोग होंगे, उनकी अपनी सोच भी रही होगी, डाक्यूमेन्टेशन न होने से हमें समुचित जानकारी नहीं है। इन घरानों की पहचान का समय एक दूसरे के नजदीक होने की वजह से ये हमारी जानकारी में अब है। हालांकि घरानों के बंटने से विकास अवरुद्ध नहीं हुआ। सबका मूलभाव तो वही है। उसे विभाजन न कह कर शाखायें कहना ज्यादा सकारात्मक भाव है।

नाट्यशास्त्र के सिद्धांत से सभी शास्त्रीय विधायें अपने रिश्ते को जोड़ती हैं, कथक का कौन सा तार नाट्यशास्त्र से जुड़ा है?

पहले तो ये समझना जरूरी है कि नाट्यशास्त्र है क्या? नाट्यशास्त्र में किसी म्यूजिक या नृत्यफार्म का जिक्र नहीं है। इसके ३६ चेप्टर में पहले चेप्टर में पूजा-पाठ की विधि व आदिनाथ को स्थापित करना है कि शिव संगीत जानते थे। नाट्यशास्त्र हमारे अपने जीवन की गतिविधियों का ही शास्त्र है। जैसे मैं आपको देख रही हूँ तो कहीं हाथ की उंगली चेहरे पर लगा कर देखती हूँ, कहीं दोनों हाथों की मुष्ठि बनाकर देख रही हूँ या बात कर रही हूँ तो अलग-अलग रसों की व्युत्पत्ति को नाट्यशास्त्र में क्लासीफाईड किया गया है।

सबके लिए नाट्यशास्त्र है और कथक भी हमारे जीवन का ही अंग है।

- कथक में तो भक्ति की कथाएँ कही गई। कथा कहते-कहते कथक शास्त्रीयता के दायरे में आ गया। बरसों से आपके पास बहुत सी महत्वपूर्ण जिम्मेदारी रही और साथ-साथ आपके कत्थक प्रेम ने कत्थक को भी एक जगह दी।

कथक की मूल आत्मा को रखते हुए आपने अपनी संरचनाओं में नयापन कैसे लाया?

- हाँ, जानबूझ कर ना तो कोई नयापन लाता है ना मैंने नयापन लाया। हर व्यक्ति की अपनी सोच है उसी सोच और व्यक्तित्व के अनुसार उसकी जीवन शैली है। मेरे लिए कथक मेरी आत्मा है। मैं अपनी अभिव्यक्ति कत्थक के द्वारा करती हूँ, वो आप लोगों के लिए नया प्रयोग है। बहुत समय पहले विदेश में वहाँ के म्यूजिक को सुनते-सुनते मैं नृत्य करने लगी तो म्युजिक कहीं का हो दिल को छूने पर आपकी अपनी अभिव्यक्ति अपने माध्यम से होने लगती है।

मीरा, सूर, तुलसी के काव्य में तो गहरी लयात्मकता तथा आख्यान मिलेगा परन्तु व्यक्ति केंद्रित रचनाएं भी आपने की हैं जैसे गांधीजी, कस्तूरबा आदि पर। इनमें तो सिर्फ कथा है, इसे स्पष्ट करें।

- संगीत तो इसमें भी है। हाँ छन्दों में बँधा होने से ताल-लय में लाना मुश्किल नहीं होगा। अगर रिद्मिक नहीं भी है तो नृत्य का महत्वपूर्ण अंग रसभाव तो है। तो हम उन्हीं भावों को सुरों में ढाल कर नृत्य द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। चूंकि नृत्य मेरा माध्यम है, इसमें मैंने काम किया। थियेटर वाले अपने माध्यम को इस्तेमाल करेंगे। साहित्यकार ने भी तो अपनी कलम के माध्यम से चरित्र को पन्नों पर उतारा।

शास्त्रीय नृत्य व संगीत भीतर से आनन्द देते हैं। एक खुशबू की तरह बहुत देर वह हवा में इसका आनन्द सृजित करते हैं। दर्शकों के समक्ष हम अपनी भक्ति और आनन्द के जरिए सभी को आनन्दित कर रहे होते हैं।

श्रृंगार और वेशभूषा नृत्यविद्या का महत्वपूर्ण अंग है और इनका अनिवार्य आकर्षण दर्शकों के मन में उतरने का काम अंजाम देता है पर हमारी देह और भीतर का जो नैसर्गिक सौंदर्य भाव है, तो वह बनावटी सौंदर्य से बाधित होता है, क्या आपको ऐसा लगता है?

- बाहरी और अन्दरूनी दोनों तरफ के सौंदर्य का जोड़ ही महत्वपूर्ण है। यह भी योग बनाता है। सुन्दरता सभी को आकर्षित रकती है, परन्तु अगर उसमें कोई तत्व नहीं है तो सौन्दर्य को भी देखना चाहते हैं। नृत्य में भी बाहरी सौन्दर्य एक गरिमा के साथ जरूरी है। हम पूजा करते हैं तो पवित्रता के साथ ही तो करते हैं।

कथक ईश्वर की आराधना, स्तुति और भक्ति है तो क्या इसे मनोरंजन की कला कहना गलत है?

- मनोरंजन बहुत क्षणिक होता है, परन्तु भक्ति की लौ बहुत देर तक जलती है। चाहे हम स्वयं हो या रसिक का मन। मनोरंजन भी आवश्यक है परन्तु शास्त्रीय नृत्य व संगीत अन्दर से आनन्द देते हैं। एक खुशबू की तरह बहुत देर वह हवा में इसका आनन्द सृजित करता है। दर्शकों के समक्ष हम अपनी भक्ति और आनन्द के जरिए सभी को आनन्दित कर रहे हैं।

अन्य शास्त्रीय नृत्य विधाओं के विषय में आपकी दृष्टि?

-सभी शास्त्रीय नृत्य विधाएं बहुत अच्छी हैं। मैं सबका सम्मान करती हूँ परन्तु मुझे अपना सिर्फ कत्थक ही लगा और लगता है।

शोभना जी, कथक और साहित्य के अंतर्संबंध में आपके क्या विचार हैं?

- पहले तो कथक ही कथा कह स्तुति करने वाले कहलायें तो शब्द और कथक का मूल साहित्य से है। इसका अटूट सम्बन्ध है। हम जो अभिनय करते हैं वह किसी न किसी पद पर आधारित है, अतः वह साहित्य है। कथक के तोड़े, परन जिसे टैक्नीकल भाग कहते हैं, की तरफ देखें तो कवित्त परन भी साहित्य है। कथक के सौंदर्य को साहित्य का आभूषण और चार चाँद लगाता है।

मोहिनी अट्टम की कनक

फोरम दलाल

घड़ी के ग्यारह बजाते ही नालंदा नृत्य कला महाविद्यालय की संस्थापक-निदेशक डॉ. कनक रेले अपने दफ्तर में प्रवेश जाती हैं। उनकी नजर टेबल पर पड़े कागजों पर पड़ती है, जिन्हें तुरंत निपटाया जाना जरूरी है। अपना आसन ग्रहण करते हुए वे कहती है- 'कहने को तो मैं रिटायर हो गई हूँ लेकिन अब भी मेरा सारा वक्त अपनी कला और जीवन के लिये ही गुजर रहा है।'

डॉ. कनक रेले को लयात्मक नृत्य मोहिनी अट्टम को पुनर्स्थापित करने तथा शास्त्रीय नृत्य के क्षेत्र में शोध को नए आयाम देने का श्रेय जाता है। मुझे उनसे अपनी पहली मुलाकात याद है। मैं नालंदा में प्रथम वर्ष की छात्रा थी और हमारी क्लास डांस हॉल में वार्षिक समारोह के लिए अभ्यास कर रही थी। हम नर्तक जरा सुस्त थे और हमारी टीचर के आदेशों का भी कोई खास असर नहीं हो रहा था। डॉ. रेले वहाँ से गुजर रही थीं और यह नजारा देखकर भीतर आईं। उनके एक बार आंखें तरेरते ही हम सब बिल्कुल सही-सही मुद्राओं में आ गए। मगर उनके लिए यह पर्याप्त नहीं था। वे बोलीं, 'ऐसे नृत्य करो, जैसे तुम लोग मंच पर प्रस्तुत दे रहे हो- परिपूर्ण नर्तक की तरह, अभिनय सहित।' कहने की जरूरत नहीं कि हमने वैसा ही किया। नालंदा में मेरे सात वर्षों के दौरान डॉ. रेले से इस प्रकार की भिड़ंत कई बार हुई। वे अक्सर क्लास में आ जातीं और सुनिश्चित करतीं कि सभी विद्यार्थी हमेशा अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करें। बरसों बाद उनसे मिलते हुए उनमें कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता। उनकी बात उन्हीं के शब्दों में आपसे बाँट रही हूँ।

गणतंत्र दिवस पर मेरे पति यतिन टीवी पर परेड देख रहे थे और मैं कुछ पाठ्य पुस्तकें लेकर बैठी थी। मैं अपनी पुस्तक 'मोहिनी अट्टमः द लिरिकल डांस' के दूसरे संस्करण के विमोचन की तैयारी कर रही थी। फोन बजा और जब मैंने उठाया, तो उस ओर से बोल रहे व्यक्ति ने बताया कि 'मैं केंद्रीय गृह सचिव बोल रहा हूँ और मुझे आपको बताने में खुशी हो रही है कि आपको पद्मभूषण प्रदान किया जा रहा है।'

मुझे खुशी हुई कि मेरे प्रयासों को सम्मान मिला मगर मेरी जिंदगी में कुछ भी नहीं बदला है। आज 75 साल की उम्र में भी मैं काम करती हूँ और सुबह 11 से शाम 6 बजे तक अपने इंस्टीट्यूट पर रहती हूँ। मैं मात्र ६ साल की थी, जब मैंने कथकली सीखना शुरू किया। मैं अपनी माँ के साथ शांतिनिकेतन में रहती थी। मैं जब 10 माह की थी, तभी मेरे पिता चल बसे थे और मेरे दादा-दादी का परिवार नहीं चाहता था कि मैं नृत्य सीखूं। मगर मेरी माँ को अहसास हो गया था कि मुझे नृत्य करने से रोकना लगभग नामुमकिन है। तो उन्होंने मेरे सामने एक शर्त रख दी। वह यह कि मुझे एक श्रेष्ठ छात्रा साबित होना होगा। मैंने इस बात के लिए खूब मेहनत की कि मैं क्लास में टॉप तीन विद्यार्थियों में से होऊं। हम शीघ्र ही मुंबई शिफ्ट हो गए और मुझे पांचाली करुणाारा पन्निका से सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने भरतनाट्यम भी सीखा। यहाँ कथकली को समझने वाले नहीं थे। मुंबई में इसके अधिक नर्तक नहीं थे। मैंने 1966 में मोहिनी अट्टम सीखना शुरू किया। देह गतिकीय संबंधी मेरी अपनी थ्यौरी थी और मैं इस विधा की शुचिता को बनाए रखना चाहती थी। अतः मैंने तय किया कि मैं केवल एक भारतीय शास्त्रीय नृत्य करूंगी। इसके बाद कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। 25 की होते-होते मैं देश की शीर्ष मोहिनी अट्टम नृत्यांगनाओं में से एक थी।

मैं गुरु-शिष्य परंपरा में यकीन तो रखती थी लेकिन जिस तरह की शिक्षा दी जा रही थी, उससे मैं संतुष्ट नहीं थी। मैं और गहरे में जाना चाहती थी। कहीं भी शास्त्रों के बारे में नहीं सिखाया जाता था, न ही अकादमिक पक्ष को महत्व दिया जाता था। गवर्नमेंट लॉ कॉलेज की छात्रा रहते मैंने तत्कालीन कुलपति टी के टोपे को अपने एक कार्यक्रम में आमंत्रित किया था। मैंने उनसे डांस में डिप्लोमा कोर्स शुरू करने के बारे में बात की। इस पर उन्होंने कहा, 'पार्ट टाइम डिप्लोमा क्यों? नालंदा को डांस का डिग्री कॉलेज बनाओ'। मुझे अपने कानों पर भरोसा नहीं हुआ। आज पिछले 25 साल से नालंदा विकलांग बच्चों के लिए डांस थैरेपी उपलब्ध कराता है। बच्चों के लिए डांस थैरेपी उपलब्ध कराता है। यहां कुल 118 डिग्री कोर्स कराए जाते हैं।

मैं रोड सुबह 5.45 पर उठ जाती हूँ। दिन की शुरुआत योग और पिलेटीज से होती है, जिससे शरीर की जकड़न दूर रहती है। मैं दोपहर में कभी नहीं सोती। मेरा मन जो भी खाने को करे, मैं जरूर खाती हूँ, फिर वह भेलपूरी ही क्यों न हो। मगर अपना खाना आज भी मैं खुद ही बनाती हूँ। अब मैं अचार भी डालने वाली हूँ...।

विरासत

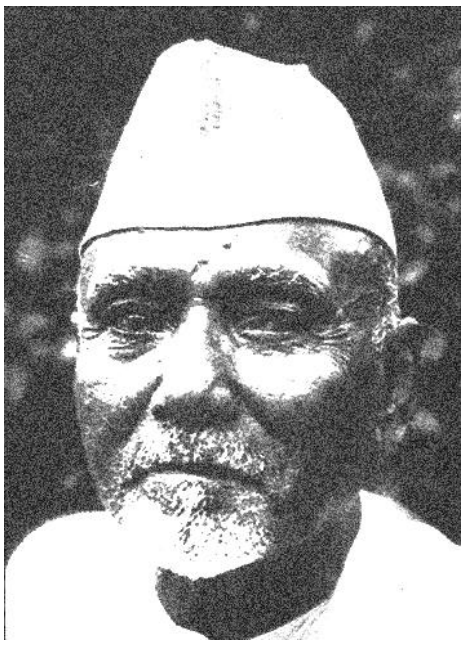

आलम से बाबा की कथा

प्रभा जैन

बहुत पुरानी बात है। लगभग कोई 150 साल पहले की होगी। एक लड़का था, छोटा सा कोई आठ-नौ साल का। पुरखे कभी ब्राह्मण रहे थे पर उसने त्रिपुरा को ब्राह्मण बाडी के एक साधारण मुस्लिम परिवार में जन्म लिया। बचपन था कोई चिन्ता नहीं थी। हँसना खेलना और परिवार के स्नेह में मस्त रहना। समझ आने लगी तो स्कूल जाने लगा। स्कूल के रास्ते में एक शिव मन्दिर पड़ता था। जहाँ अक्सर भजन कीर्तन होता रहता था। लड़का जब भी स्कूल जाता था तो उसके कदम खुद ब खुद मंदिर के पास रुक जाते थे। तबले, ढोलक की थाप उसके कदम रोक लेती थी और भजनों के सुर उसे मन्दिर में खींच लेते थे। धीरे-धीरे उसने स्कूल जाना बन्द कर दिया और घर से स्कूल जाने के बजाय मन्दिर में ही रूक जाता। वहाँ गाता बजाता, प्रसाद लेता और मस्त रहता। लेकिन एक दिन घरवालों को पता चल गया। चार भाई दो बहिन थी। माँ-बाप चाहते थे कि वो पढ़ाई करें लेकिन जब उसकी मन्दिर वाली बात पता चली तो लड़के की खूब पिटाई हुई।

बालक का मन उचट गया। स्कूल तो जाता पर मन में वही तबला, ढोलक, हारमोनियम, भजन गूंजते रहते। उसका अब कहीं मन नहीं लगता था, बड़े भाई और पिताजी से संगीत की बात सुनी थी। उसके पिताजी सितार और भाई तबला बजाता था सो मन में जम गया कि अब पढ़ाई बढ़ाई नहीं करनी, अब तो बस संगीत सीखना है। सिर्फ संगीत।

बस फिर क्या था एक रात माँ के पास से उठा, चाबी निकाली, सन्दूक खोली पैसे लिये, कुछ कपड़े लिये और निकल पड़ा घर से। आठ साल का बालक जिसकी उम्र माँ के वात्सल्य में पलने-बढ़ने की थी। संगीत के लिये घर से निकल पड़ा। उसे पता भी नहीं कि वो कि, यात्रा पर जा रहा है। कहाँ जा रहा है क्या होगा। ये उसके बालपन का हठ था, साहस था या कोई दैवीय प्रेरणा जो भी था अद्वितीय था ना ऐसा हुआ और ना होगा। घर से निकला और बिना टिकट सियालदाह नाम की जगह पहुँचा। टिकिट कैसे लेता पता ही नहीं था कि रेल में टिकट लेना होता है। स्टेशन पर पहुँचा तो भीड़ देखकर घबरा गया। डरते डरते भीड़ पार की और सड़क पर आ गया। डरा हुआ था, कुछ जानता भी नहीं था। पश्चिम की ओर चलता गया। सुना था कि ज्यादातर गुणी संगीतकार पश्चिम की ओर रहते हैं। चलते चलते हावड़ा पोल के पास गंगा किनारे पहुँच गया।

तब तक शाम हो गई थी तो भूख भी लग गई थी। इधर उधर देखा तो सामने पूड़ी की दुकान नजर आई। पैसे थे ही पास में, तो पूड़ी खरीद ली और खा के सामने गंगा के पानी पर मुंह झुका दिया। पानी पिया और आसमान झांका तो अंधेरा घिर आया था। थकान भी हो गई थी। सामने ही एक पेड़ था तो बस वहीं सोने का इरादा कर लिया। सर के नीचे गठरी लगाई और सो गया।

कैसे नींद होगी? वहाँ माँ-बाप भाई सब द्वार को तक रहे होंगे। और ये लड़का इसका क्या हो सकता है जब भूख लगी हो माँ की याद आई होगी? हो सकता है जब सोने के लिये पेड़ के नीचे लेटा हो कठोर जमीन ने उसे माँ की थपकियाँ और बिस्तर याद दिला दिये हों। याद आई तो होगी, पर लक्ष्य भारी था, ध्येय भारी था, संगीत सीखना, सबसे बढ़िया, कहाँ गुरू मिलेंगे? कौन सिखायेगा। इसी उधेड़बुन में झपकी लग गई। सुबह नींद खुली तो सर के नीचे गठरी नहीं थी। गठरी के साथ कपड़े पैसा दोनों गये। ढंग से आँखें भी नहीं खुली कि रोना शुरू हो गया। बालक ही तो था। निपट अकेला, बिल्कुल नई जगह। रोने लगा और चलता चला गया। क्या स्थिति होगी उस वक्त कोई अपना नहीं, कोई परिचित नहीं। किसी को कहें भी तो क्या कहें? बहुत दूर चला आया। लेकिन नियति तो तैयार थी उसके सारे बन्दोबस्त करने के लिये। जब सारे मार्ग बन्द हो जाते हैं और मनुष्य को कुछ दिखाई नहीं पड़ता तब प्रकृति उसकी डोर स्वयं पकड़ लेती है और फिर ये तो बालक ही था छोटा सा। आगे बढ़ा ही था कि देखा गंगा किनारे साधु बैठे हुए हैं। एक साधु ने पूछा रो क्यों रहा है? जब मनुष्य बहुत दुख में होता है और कोई जानकर या अनायास पूछ लेता है कि क्या बात है तो मनुष्य स्वयं को रोक नहीं पाता। फूट पड़ता है। बालक ने अपनी सब राम कहानी रो दी और बताया कि कैसे गठरी चोरी हो गई। साधू ने उसे चुप कराया, ढांढस बंधाया और कुछ देने को उसके पास था या नहीं पर अपने यहाँ से थोड़ी सी भस्म निकालकर बालक को दी और कहा कि इस रास्ते पर सीधे चले जाओ।

ये कौन था, कैसी भस्म थी और कौन सा रास्ता दिखाया था कि कह दिया इस रास्ते पर सीधे चले जाओ। ये प्रकृति का कैसा संकेत था कि सीधे जाओ मुड़कर मत देखना। बालक ने भस्म ली उठा और चल दिया। उसे पता भी नहीं था कि उसकी मनचाही यात्रा अब शुरू हो चुकी है।

आगे पहुँचा था कि बहुत से भिखारी और जरूरतमंद लोग खाना खा रहे थे, और एक ब्राह्मण परोस रहा है। वहाँ पहुँचा तो ब्राह्मण ने पूछ लिया कि क्या नाम है तुम्हारा? बालक ने कहा- आलम। ब्राह्मण ने पूछा अनाथ हो जिसके पास कुछ नहीं होता, उसके पास

छिपाने को भी कुछ नहीं होता। आलम ने सब सच सच बता दिया। पूरी बात सुनने पर ब्राह्मण ने उंगली के इशारे से सामने एक दवाखाना दिखाया और कहा कि डाक्टर बाबू को मैं बोल दूंगा कि रात को यहाँ सो जाया करो और दिन में यहाँ खाना खा लिया करो।

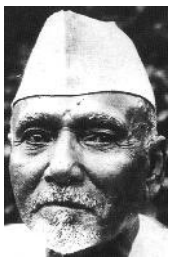

ये कौन था, कैसी भस्म थी और कौन सा रास्ता दिखाया था कि कह दिया इस रास्ते पर सीधे चले जाओ! ये प्रकृति का कैसा संकेत था कि सीधे जाओ मुड़कर मत देखना! बालक ने भस्म ली उठा और चल दिया। उसे पता भी नहीं था कि उसकी मनचाही यात्रा अब शुरू हो चुकी है।

रात को सोने और दिन में खाने का इन्तजाम हो गया। तीन महीने हो गये। रोज एक वक्त खाना खाता और केदार नाथ की डिस्पेन्सरी के बरामदे में सो जाता पर ये उसका जीवन नहीं था दिन रात एक ही धुन लगी रहती थी कि गुरू कहाँ मिलेंगे? कैसे मिलेंगे? कुछ दिन कटे एक दिन अचानक एक लड़के ने पूछा- तुम्हें रोज देखता हूँ, तुम यहीं बैठे रहते हो क्या तुम्हारा कोई नहीं है? आलम ने अपनी पूरी कहानी सुना दी। लड़के के पिता वीरेश्वर बाबू खुद संगीत सीखते थे। आलम की कहानी सुनकर वो अभिभूत हो गए कि इतनी कम उम्र में संगीत के लिए ऐसा प्रेम, ऐसा त्याग कि सब छोड़ दिया। उन्होंने पूछा गाना जानते हो। बालक ने कहा- सीखा तो नहीं, पर शिव मंदिर में जो सुना है वो गा सकता हूँ. आलम ने सुर लगाया- ''शिव शंकर हर-हर बम्ब-बम्ब भोलानाथ''। पता नहीं कैसा था। पर सच्चा गाया। हृदय से निकली आवाज थी, लड़के के पिता ने आलम से कहा तुम्हारी आवाज मीठी है। तुम गा सकते हो।

और उन्होंने आलम को अपने साथ लिया और पहुंच गए अपने गुरू के पास। उनके गुरू पाथुरिया घाट के राजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर के दरबारी ध्रुपद गायक थे। नाम था गोपाल चन्द्र भट्टाचार्य। प्यार से सब कहते थे नूलो गोपाल। जब आलम नूलो गोपाल से मिला और अपनी बात बताई कि कैसे घर बार छोड़कर वह संगीत के लिए भटक रहा है। तो नूलो गोपाल को बालक की निश्चितता और संगीत सीखने की सच्चाई पर स्नेह आया। और परीक्षा लेने के अंदाज में पूछा १२ साल तक केवल स्वर साधना करनी पड़ेगी और उसके बाद गाना सिखाऊंगा। दिन रात स र ग म करनी पड़ेगी.... कर सकोगे?

अंधे को क्या चाहिए दो आँख। और जब जिस संगीत के लिए सब कुछ छोड़ दिया उसको सिखाने वाला गुर, सामने खड़ा हो तो क्या सोचना। आलम ने सर झुकाया और कहा जो भी और जैसा भी आप कहेंगे वही करूंगा। बस आलम वहीं रहने लगा- गुरू के साथ। गुरू ने एक मंत्र दे दिया। एक हाथ में तानपुरा एक हाथ में तबले का डुग्गा और कह दिया एक पैर से मात्रा गिनो और एक पैर से ताल लगाओ। बस आलम ने तन मन से स्वर की साधना शुरू कर दी। रात दो बजे से रियाज शुरू होता और सुबह के पांच तक चलता। छोटी उम्र, कोमल शरीर, कोरा मन.... सुर... सुर की समझ और ताल मन में बैठते गए। कोरा मन ही तो था नूलो गोपाल जो सिखाते गए छपता गया। गोपाल स्वयं गाते चाव से सुनता। सात सुरों में धीरे धीरे 4 साल कब बीत गये पता ही नहीं चला। आलम 13-14 बरस का हो गया। माँ-बाप, भाई-बहिन घर कुछ भी नहीं। याद आई भी होगी तो सह लिया होगा। बस उसकी साधना और गुरू यही उसकी जिंदगी बन गए।

नूलो गोपाल जानते थे कि संगीत के लिए कितना धैर्य चाहिए। एक दिन उन्होंने आलम को बुलाया और कहा कि आलम धैर्य की परीक्षा में तुम पास हो गए। दिनोंदिन आलम का गला मीठा होता गया और गाने का दम बढ़ता गया।

गाने के साथ ही नूलो गोपाल ने आलम को तबला व मृदंग भी सिखाया। गानों के सुरों और तबलों की तिरकिट में तीन साल और गुजर गए। लेकिन इस साधना ने आलम को स्वर और ताल का पक्का बना दिया। आलम का जीवन संगीत हो गया। लेकिन उधर घरवाले.... उन्होंने पता किया, ढूँढते-ढूंढते नूलो गोपाल के पास कलकत्ता में आलम को ढूँढ़ने बड़े भाई आये और अनुनय-विनय करके आलम को 1 महीने के लिए घर ले गये।

स्वजन मिले, स्मरण-विस्मरण की बातें हुई। घर वाले चाहते थे कि आलम अब यहीं रूक जाए, कहीं भी नहीं जाए। उन्होंने उपाय सोचा, 15 साल के आलम का 8 साल की लड़की से विवाह कर दिया। पर उन्हें कहाँ पता था कि स्वर के ताप और गुरू की थाप ने आलम को संत बना दिया है। फकीर कर दिया है।

आलम शादी की ही रात घर छोड़कर वापस चल दिया अपने गुरू के पास। पर नियति फिर तैयार थी उसका धैर्य नापने को, कलकत्ते गुरू के घर ताला लगा मिला। आलम आशंकाओं से घिरा यतीन्द्र नाथ ठाकुर और अपने गुरू के दामाद के पास पहुंचा और जो पता चला तो मानो सब लुट गया, भक्त के भगवान शिष्य को गुरू जी की आस सब कुछ। इसी एक महीने में आकस्मिक बीमारी से गुरू नूलो गोपाल का स्वर्गवास हो गया।

सारे रास्ते, मार्ग फिर से घूमते दिखाई देने लगे। गुरू का विरह हृदय को फाड़े दे रहा था। पूरा बचपन जिस गुरू ने संभाला अब वो भी नहीं रहा तो शायद आलम ने इसी कारण निश्चय कर लिया कि अब गाऊंगा नहीं, कभी नहीं, अब बजाऊंगा। वाद्य सीखूंगा। नूलो गोपाल के दामाद किरण बाबू ने आलम को अमृतलाल दत्त का पता दिया जिन्हें हाबूदत्त कहते थे। कहा कि वो सब वाद्य बजाना जानते हैं। आलम हाबूदत्त के पास पहुंचा और सारी बात बताई। हाबू दत्त ने आलम को शिष्य बना लिया और आलम वायलिन और क्लोरेनेट बजाने लगा। स्वर पलटे तो पहले ही सीखे थे। आलम उनका अभ्यास वायलिन और क्लोरेनेट पर करने लगा। कुछ ही समय में आलम ने राग सीखना शुरू कर दिया। और प्रसन्न होकर गुरू हाबूदत्त बोले एक दिन तुम बहुत गुणी आदमी बनोगे। हाबूदत्त ने सब शिष्यों में सबसे ज्यादा आलम प्रसिद्ध हो गया। अब आलम ने हाबूदत्त से ही अंग्रेजी

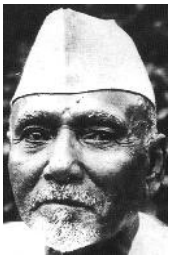

विद्या को देना बड़ा कठिन है। ना जाने क्या कारण था अहमद अली आलम को पूरी तरह नहीं सिखाते थे। पर आलम बहुत तेज था। जो सुनता था उसे कंठस्थ कर लेता था और जब गुरू घर पर नहीं होते तो आलम गुरू की बजाई चीजों का अभ्यास करता।

बैण्ड और शहनाई की शिक्षा भी ले ली। अब आलम बड़ा भी हो गया था। पैसों की जरूरत पड़ने लगी। हाबूदत्त ने आलम को 12 रुपये की नौकरी दिलवा दी। मिनर्वा थियेटर में नाटककार गिरीशचन्द्र के यहाँ। आलम वहाँ वाद्य बजाता और कार्यक्रम तैयार करता। इस दौरान आलम एक दुकान में रहने लगा। वहीं पास में ईडन गार्डन के बैण्ड मास्टर लोबो का घर था। आलम जब भी लोबो के घर के बाहर से निकलता तो लोबो का वायलिन और उसकी पत्नी के प्यानों की जुगलबंदी की आवाज सुनता था। आलम को जंच गया कि अब अंग्रेजी वायलिन सीखना है। एक दिन लोबो अपनी पत्नी के साथ बाहर बैठे थे। आलम वायलिन लेकर पहंचा। लोबो ने आलम को भगा दिया पर उसकी पत्नी ने आलम की चुपचाप जब दिन में लोबो नहीं होता था तो बुलाकर वायलिन सिखा दिया। उसके बाद तो हाबूदत्त के कहने पर लोबो ने भी सिखा दिया।

आलम को बहुत वक्त हो गया संगीत सीखते-सीखते। जैसे शक्ति की सवारी मुश्किल है। ऐसे ही विद्या का वजन झेलना भी मुश्किल है। आलम को घमण्ड हो आया। उसने मिनर्वा की नौकरी छोड़ दी। आलम को लगा कि वह उस्ताद हो गया है। कलकत्ता में मुक्तागाछा नाम की जगह थी। वहाँ के जमींदार जगतकिशोर के यहाँ दुर्गा पूजा में दरबार लगता था। बड़े-बड़े संगीतकार आते थे। आलम वहाँ पहुँच गया और कहा कि मैं उस्ताद हूँ, कई सारे वाद्य बजाता हूँ। दरबार लगा, कार्यक्रम शुरू हुआ। अहमद अली नाम के सरोदवादक थे। उन्होंने सरोद बजाना शुरू किया, ये नियति थी। सरोद का एक एक सुर आलम के कानों में पड़ता गया और उसका अहंकार गलकर आँसुओं में बहता गया। ऐसा रोमांच ऐसा सरोद पहले कभी नहीं सुना था। सुबह 8 बजे से 1 बजे तक अहमद अली बजाते रहे और आलम की आँखों से रोमांच के आँसू आते रहे। जैसे ही सरोद का बजना बंद हुआ आलम उठा और अपना सर अहमद अली के कदमों में रख दिया। और रोते हुए बोले- अब आप मेरे गुरू हो। मुझे शिष्य रूप में ग्रहण कीजिए। दरबार में ही आवश्यक सामग्री आई और अहमद अली ने आलम को शिष्य बना लिया। अब आलम अहमद अली खान के साथ कलकत्ते में ही रहने लगा। वो गुरू के साथ महफिलों में तबला बजाता और वायलिन भी बजाता। उसका वायलीन ऐसा था कि लोग कहते कि हमने कभी ऐसा वायलिन नहीं सुना। वायलिन से आलम की रोजी-रोटी चलने लगी।

विद्या को देना बड़ा कठिन है। ना जाने क्या कारण था अहमद अली आलम को पूरी तरह नहीं सिखाते थे। पर आलम बहुत तेज था। जो सुनता था उसे कंठस्थ कर लेता था और जब गुरू घर पर नहीं होते तो आलम गुरू की बजाई चीजों का अभ्यास करता। पर एक दिन अहमद अली को पता चल गया। क्रोध से आलम एक दिन सरोद बजाने में व्यस्त था। गुरू ने अपनी चीज बजते सुना। धक्के से दरवाजा खोला और गुस्से में कहा तुमने हमारी विद्या की चोरी की है, तुम चोर हो। आलम आहत हो गया कहा ''यही राग सुनकर मैं आपका शिष्य हो गया था। मगर आप चाहते हैं तो मैं ये राग कभी नहीं बजाऊँगा। आप जो कहेंगे वही बजाऊँगा। कुछ वक्त और बीता। अहमद अली आलम को बड़े उस्ताद को दिखाने के लिए अपने गाँव जन्म स्थान रामपुर ले गए। रास्ते भर जहाँ भी कोई राजा का परिवार आता गुरू-शिष्य बजाते और धन कमाते। सारा धन आलम के पास रहता। रामपुर पहुंचे तो अहमद अली ने आलम को अपने माँ-बाप से मिलवाया।

कुछ वक्त के बाद आलम ने अहमद अली से कहा कि आपने कभी पैसे का हिसाब क्यों नहीं लिया तो अहमद अली ने कहा कि पहले के शिष्यों ने कहा कि सारा धन मेरे खाने-पीने पर ही खर्च हो जाता है। आलम उठा और संदूक लाया। उसमें से 10 हजार रुपये की थैली निकाली और थमा दी गुरू को।

यह देखकर अहमद अली के पिता आबिद अली ने कहा कि तुम तो कहते थे आलम धूर्त और चालाक है। ये तो बहुत ईमानदार है। फिर आबिद अली ने आलम को सरोद सिखाना शुरू कर दिया। आलम कलकत्ता नहीं आया। रामपुर ही रुक गया। नियति देखें अहमद अली ने सालों में भी आलम को पूरा नहीं सिखाया और यहाँ रामपुर में भी गुरू के पक्के घर बनाने के काम में ईंट-चूना ढोने लगे। बीमार हो गए। एक वक्त खाना और जितना सीखा उससे भी संतुष्टि नहीं हुई। गुरू आबिद अली ने भी कह दिया कि जितना आता सब सिखा दिया अब कहीं और सीखो। आलम पर फिर एक पहाड़ टूट गया। एक वक्त खाना खाता था। कभी गौमांस बनता था तो भूखा ही रहता पर खाता नहीं।

अब जब उस्ताद ने कहीं और सीखने को कह दिया तो खाने के भी लाले पड़ गए। वक्त ने फिर आलम को दो राहे पर खड़ा कर दिया। आलम खुद में डूब गया। पास की मस्जिद में बैठा रहता। सोचता कलकत्ते में अहमद अली के यहाँ भी नहीं सीख पाया और यहाँ रामपुर में उनके पिता से भी कुछ खास नहीं सीख पाया। 5-6 वर्ष ऐसे ही गए। आलम रोता रहता। अंदर से हूक उठती। खुदा से कहता रहता कि मुझे रास्ता दिखाओ।

आलम ने रामपुर के सब उस्तादों के दरवाजे खटखटाए पर सबने शिक्षा देने से मना कर दिया। रामपुर के उस्ताद वजीर खाँ। आलम ने उनसे मिलने की सोची। पर लाख कोशिशों के बावजूद जब मिलना नहीं हुआ तो आलम के सामने पूरी जिंदगी घूम गई। नूलो गोपाल जैसे सच्चे गुरू चले गए। अहमद अली खान साहब ने

इसलिए नहीं सिखाया कि मैं जल्दी सीख जाता हूँ। यहाँ कोई सिखाने को तैयार नहीं। आलम टूट गया और निश्चय कर लिया कि आज शाम नमाज के बाद अफीम खाकर मर जाऊंगा। आलम मस्जिद पहुंचा। मस्जिद में मौलवी ने आलम को उदास देखा। उसने कारण पूछा और एक चिट्ठी लिखकर आलम को दे दी कि आप नवाब साहब से जाकर मिलो। बहुत मुश्किल से नवाब साहब से मिलना हुआ। आलम ने चिट्ठी दी। नवाब साहब के होश उड़ गए। चिट्ठी में लिखा था मैं त्रिपुरा से आया हूँ। आपके वजीर खाँ साहब से संगीत सीखना चाहता हूँ। पर वो मिलते ही नहीं। इसलिए मैं अफीम खाकर प्राण त्याग दूंगा अगर मेरी शिक्षा का बंदोबस्त नहीं किया।

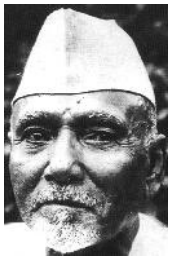

लगन, धैर्य और उत्साह तो देखा। लगातार किसी के दरवाज़े पर ढाई साल जाना और बिना मिले ही वापस लौट आना। शायद गुरू नूलो गोपाल ने इसी दिन के लिए आलम को धैर्य को पाठ पढ़ाया था।

नवाब हाजिद अली खुद अच्छे गायक और वीणा वादक थे। आलम ने जब अपनी कहानी सुनाई तो बहुत प्रभावित हुए। आलम के वायलिन का नवाब साहब पर जादू हो गया। नवाब साहब ने वजीर खाँ को बुलाया और वजीर खाँ ने आलम को शिष्य बना लिया। वजीर खाँ ने कहा कि सरोद, रबाब और सुरसिंगार सब सिखाऊँगा पर वीणा नहीं। वीणा मैं बस अपने बेटे को सिखाऊँगा।

आलम ने ठण्डी आह ली और इसमें भी तैयार हो गया कि यही सही। आलम फिर रोज सुबह गुरू गृह जाता और दोपहर को लौटता और शाम 4 बजे जाता और रात 10 बजे लौटता। लेकिन गुरू-शिष्य को भूल गया था। ढाई साल फिर बीत गये पर किसी ने आलम को घर के अंदर ही नहीं जाने दिया।

लगन, धैर्य और उत्साह तो देखा। लगातार किसी के दरवाजे पर ढाई साल जाना और बिना मिले ही वापस लौट आना। शायद गुरू नूलो गोपाल ने इसी दिन के लिए आलम को धैर्य को पाठ पढ़ाया था। जब ढाई साल तक गुरू नहीं मिले तो आलम ने रामपुर के ही अन्य उस्तादों से सीखना शुरू कर दिया। उस्तादों ने सिखा दिया क्योंकि वजीर खाँ के शिष्य होने के नाते अब वो आलम का सम्मान करते थे।

आलम को अब भी कोई रास्ता नजर नहीं आ रहा था, तो संतुष्ट नहीं था। सीखना था उसे संगीत बस संगीत। इतने वर्ष खोने पर भी कुछ नहीं मिला। तभी एक घटना घटी। आलम की पत्नी जिसकी उसे याद तक नहीं थी, ने आत्म-हत्या का प्रयास किया। आखिर उस

उस्ताद अलाउद्दीन खाँ का 150वीं जयंती वर्ष मनाया गया। भारतीय संगीत जगत का जो ठोस धरातल है उसकी नींव में बाबा अलाउद्दीन खाँ का चिरस्मरणीय योगदान है। उनकी अदम्य इच्छा शक्ति व कठोर सहिष्णुता ने उन्हें एक युग प्रणेता बना दिया इसलिए उनकी महत्वपूर्ण सेवाओं का मूल्यांकन करते हुए केन्द्र सरकार ने भी खाँ साहब को सर्वप्रथम पद्मभूषण (1958) व पद्मविभूषण (1971) की उपाधियों से सम्मानित किया।

संगीत जगत में उनके योगदान को देखने के लिए सभी उनके बहुआयामी व्यक्तित्व को देखने का प्रयास करते हैं। वे कौन से ऐसे तत्व थे जिनके कारण एक छोटे से साधारण कद-काठी का व्यक्ति एक उस्ताद के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। बाबा ने सबको सिखाया। अमीर-गरीब सबको। मैहर बैंड (वाद्यवृद्ध) में तो बच्चों को और समाज के सभी तबके के लोगों को खुद ने संगीत सिखाया और उनकी जिंदगी बना दी। कैसे थे बाबा? ऐसी निर्लिप्तता? पूरा जीवन उस्तादी के घर काम किया। कभी घर में ईंट चूना ढोया, तो कभी बर्तन साफ किए तो कभी चिलम हुक्का भरे। बचपन की माँ-बाप के स्नेह में पलने की उम्र संगीत के लिए दर-दर भटककर निकाल दी। तब जाकर पायी विद्या। और जब गुरू बने रहने की बारी आई तो हाथ हृदय सब एक साथ खोल दिए। जो जितना भर सकता था ले गया। किसी को मना नहीं, किसी से कुछ पाने की आशा नहीं। बस एक ही उम्मीद एक ही धारणा कि संगीत भगवान है, नाद ब्रह्म है। इसकी साधना पूरी ईमानदारी और शुद्धता से करो। जिस दिन सच्चा सुर लगेगा जीवन बदल जाएगा। बाबा अलाउद्दीन खान साहब व्यावसायिक संगीत के खिलाफ थे। क्योंकि संगीत को वो आध्यात्मिक तरीका मानते थे खुदा से मिलने का। कहते थे कि संगीत मेरी जाति है और सुर गोत्र इसलिए हमेशा ऊपर वाले के ध्यान में ही गाया बजाया और सिखाया।

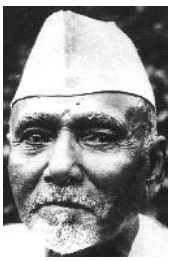

आलम का जन्म ही संगीत के लिए हुआ था। नूलो गोपाल ने उसे पहले ही मजबूत नींव बना दिया था। आलम ने सब कुछ बहुत जल्दी सीख डाला और एक दिन गुरू ने कहा जाओ और अपनी विद्या की परीक्षा करो।

जमाने में कितना मुश्किल था एक औरत का जीना जिसका पति कभी घर लौटा ही नहीं हो। आलम के बड़े भाई ने वजीर खाँ को सूचना भिजवाई की ऐसा हो गया है आलम को भेज दो। इस सूचना के बाद वजीर खाँ को ध्यान आया कि उसका कोई आलम शिष्य भी है। उन्होंने तुरंत आलम को बुलवाया और ग्लानि व्यक्त की और कहा कि मैं तुम्हारी शिक्षा बहुत कम समय में ही पूरी कर दूंगा।

फिर क्या था सही अर्थों में शिक्षा पुनः एक बार शुरू हो गई। शाम 7 बजे से सुबह 5 बजे तक रियाज चलता। इस दौरान कोई भी गुरू-शिष्य के पास अंदर नहीं जाता था। आलम का जन्म ही संगीत के लिए हुआ था। नूलो गोपाल ने उसे पहले ही मजबूत नींव बना दिया था। आलम ने सब कुछ बहुत जल्दी सीख डाला और एक दिन गुरू ने कहा जाओ और अपनी विद्या की परीक्षा करो।

आलम चल पड़ा। कलकत्ता आ गया। भवानीपुर में संगीत सम्मेलन था। बजाने का आमंत्रण मिला। लेकिन यहाँ भी आलम की परीक्षा होनी थी। सब संगीतकारों की तरह उसके पास महंगे कपड़े नहीं थे। बड़े साधारण से कपड़े थे। आलम पूछता फिर रहा था उस्तादों के बीच बड़ी मुश्किल से मौका आया। आलम के साथ मृदंग पर दर्शनसिंह थे जिसको लोग 'तबलचीमंच'' कहते थे।

आलम ने अपने गुरू को ध्यान किया और सरोद के तारों को छेड़ा और फिर जो बजाया तो ऐसा बजाया कि चार घंटे तक लोग हिले नहीं। वाह-वाह होने लगी। लोग पहचान गए कि ये तो वजीर खाँ बीनकार की तालीम हैं। बस फिर क्या था दूसरे ही दिन श्यामलाल छोटे आलम के पास आए और उन्हें मध्यप्रदेश के मैहर में राजा बृजनाथसिंह के पास भेज दिया।

बृजनाथसिंह संगीत सीखना चाहते थे पर गुरू ऐसा चाहते थे जो हर तरह का वाद्य बजा ले। अगले दिन दशहरा था। राजा ने भरी प्रजा के सामने कहा कि मैं बहुत दिनों से कोई उस्ताद ढूँढ रहा था, पर आज मिला है और वो भी अद्वितीय। आशा है आप भी इन्हें गुरू मानना स्वीकार करेंगे। परन्तु आलम तो शिष्य था। मना कर दिया कहा कि अभी तो मैं खुद शिष्य हूँ। गंडा नहीं बाँध सकता। गुरू आदेश से भारत भ्रमण पर निकला हूँ। इस पर राजा ने तुरन्त अपने दीवान से कहा कि आप कल रामपुर जाइये और वजीर खाँ साहब से आदेश ले आईये। वजीर खाँ को जब पता चला तो बहुत खुश हुए। उन्होंने खुद गंडा बनाया और सरस्वती का प्रसाद भी आलम के लिए भेज दिया।

आज शायद पहली बार नियति आलम के गाल सहलाने जा रही थी। ताउम्र शिष्य बनने के लिए जो भाग रहा था वो आज गुरू बनने जा रहा था।

लेकिन कैसा गुरू? जैसे सब हैं? नहीं.... आलम जब शिष्य था तब भी अलग था। फकीर था... अब गुरू होने जा रहा है तब भी अलग ही होने जा रहा था, मलंग था वो मलंग गुरू। बृजनाथ को शिष्य बनाते ही दरबार में आलम ने कहा ''मेरा प्रण है कि विद्यादान करके कभी किसी से कुछ नहीं लूंगा क्योंकि मैंने संगीत पाने के लिए बहुत कष्ट सहे हैं।'' इसलिए मैं आपसे और किसी से कुछ नहीं लूँगा। कैसा शिष्य था कैसा गुरू था। फक्कड़ ना मोह न माया। बस सच्चा सुर संगीत और कुछ भी नहीं। आलम सच में संत था संगीत का संत।

बृजनाथसिंह ने आलम को ओहदा देकर 150 रुपये महीने की तनख्वाह निश्चित कर दी, ताकि इस बहाने वो गुरू का जीवनयापन तो करवा सके। यहाँ रहकर आलम ने अपनी साधना शुरू कर दी और प्लेग से अनाथ हुए बच्चों को संगीत सिखाकर वाद्यवृंद बनाया। जिसमें बहुत लोग बहुत सारे वाद्य एक साथ बजाते थे। आलम सबको सिखाता था दिल खोलकर बिना किसी लालच के। वक्त बीतता चला गया और आलम का नाम चौतरफा होने लगा।

एक दिन आलम को उस्ताद वजीर खाँ का रामपुर से संदेश आया कि उनके बड़े बेटे का निधन हो गया है। कितना वक्त बीत गया छोटा सा आलम 35-36 साल का हो गया था। पर आज भी वह शिष्य था। तुरन्त गुरू से मिलने पहुंचा। गुरू वजीर खाँ बहुत पश्चाताप में थे। उनको लगता था कि आलम के साथ जो अन्याय हुआ इसकी वजह से ही पुत्र का निधन हो गया। दुख था कि ये कला किसको दूँ पोते-पोती छोटे हैं। फिर क्या था आलम की शिक्षा फिर शुरू हुई और वजीर खाँ ने आलम को सब सिखा दिया।

आलम फिर चल पड़ा। उदय शंकर नृत्य मंडली के साथ 24 से अधिक पश्चिमी देशों में जा जाकर अपनी कला दिखाई। लोग दीवाने हो गए। एक साल के बाद आलम फिर मैहर में अपने शिष्य वृजनाथसिंह के यहाँ आ गया। अब शायद आलम सुकून में था। 8 वर्ष में जो घर छोड़ा था वो लक्ष्य शायद पूरा हो चुका था। सरोद, वीणा, वायलिन, इसराज, मृदंग, बाँसुरी, क्लोरेनेट आदि ऐसा कौन सा वाद्य था जो उस्तादी के साथ नहीं बजाता था। लेकिन वो फकीर चेला और मलंग गुरू था। उसने अपने पीछे अपने शिष्यों की ऐसी जमात तैयार कर दी जिन्होंने अपने गुरू की कला का डंका पूरी दुनिया में बजा डाला।

गंगा के तट से साधु से भस्म लेकर चला आलम पूरी जिंदगी साधु ही बना रहा और एक दिन मैहर में ही भस्म में मिल गया। छोड़ गया दुनिया और छोड़ गया हजारों यादें, हजारों बातें, सुरों का खजाना। ऐसी थी उस बालक आलम की वो यात्रा की कहानी। आप जानते हैं वो आलम कौन था? वो आलम थे ''बाबा'' यानी अलाउद्दीन खान साहब, जी हाँ! उस्ताद उलाउद्दीन खान साहब। वही नायाब फनकार जिसने हिन्दुस्तानी संगीत के आज के अनेक चमकदार हीरों को गढ़ा। बेशक बाबा का योगदान हमेशा याद रहेगा।

‘संगीत साझा करने की कला है’

कमला इस बात को लेकर चिंतित हैं कि हवाइयन गिटार अब मंचों पर दुर्लभ हो चला है। इसके नामलेवा भी थोड़े ही हैं। कई कारीगरों ने इसे बनाना तक बंद कर दिया है। किसी जमाने में बॉलीवुड संगीत की जान रहा यह गिटार अब संकट में है।

● प्रसंगवश ●

कुमार गंधर्व सम्मान

कमला शंकर

शास्त्रीय वाद्य यंत्र बजाने वाली महिलाएँ बहुत मुश्किल से मिलती हैं और इनमें भी आप चिंतनशील की खोज करने लगें, फिर तो और भी मुश्किल होगी, ऐसे में इस बार जब शंकर गिटार बजाने वाली कमला शंकर को कुमार गंधर्व सम्मान से नवाजा गया तो उनका चुनाव बिल्कुल सही था क्योंकि उनमें एक दिग्गज बनने के सभी गुण मौजूद हैं, उनके पूर्वज तमिलनाडु के तंजौर के थे लेकिन उनका जन्म, परवरिश और पढ़ाई भगवान शिव की नगरी बनारस में हुई। इसीलिए अपने वाद्य यंत्र गिटार को शंकर गिटार नाम देना उनके लिए सहज स्वाभाविक बात थी, कमला की संगीत यात्रा छह बरस की उम्र से शुरू होती है, जब उनकी माँ उन्हें शास्त्रीय संगीत की कर्नाटक शैली में गायन की शिक्षा देना शुरू करती हैं, लेकिन कमला का मन तो पश्चिम के एक साज़ हवाइयन गिटार में लगा हुआ था, यह संभव है कि उन्नीसवीं सदी में हवाई पहुंचने वाले कुछ यूरोपीय नाविकों के साथ कुछ गिटार वहाँ पहुंच गए रहे हों, लेकिन हवाइयन गिटार म्युजिक की शुरुआत का श्रेय आमतौर पर मेक्सिको और स्पेन के चरवाहों को जाता है, जिनकी सेवाएँ 1832 के आसपास किंग कामेहामेहा-३ ने ली थीं।

कमला ने गायकी अंग के गुर पंडित अमरनाथ मिश्र और पं. छन्नूलाल मिश्र से सीखे। इसके बाद वे इमदादखानी घराने के मशहूर सितारवादक पंडित बिमलेंदु मुखर्जी की शिष्या बन गईं। गौरतलब यह है कि कमला हवाइयन गिटार की टोनल क्वालिटी से बहुत संतुष्ट नहीं थीं। वे दिल्ली में रिखीराम एंड संस के पंडित बिशन दास शर्मा के पास गईं और गिटार की सीमाओं पर उनके साथ चर्चा की। शर्मा के बेटे अजय ने गिटार में बदलाव करने में उनकी मदद की।इसके बाद जो साज़ बनकर सामने आया, वह हवाइयन गिटार और सितार का एक मलिाजुला रूप था, इसके सुर कुछ-कुछ क्लासिकल वीणा से मेल खाते थे।

कमला कहती हैं, ‘‘मैंने कभी इस पुरस्कार की उम्मीद नहीं की थी, मैं तो अभी संगीत की विद्यार्थी हूँ। यह पुरस्कार मेरे लिए बहुत मायने रखता है क्योंकि यह महान संगीतकार कुमार गंधर्व के नाम पर है। श्रेय मेरे परिवार और गुरुओं को जाता है, जिन्हें मेरी रचनात्मक क्षमताओं पर पूरा भरोसा था।’’

कमला की संगीत यात्रा इतनी आसान न थी। चूंकि संगीत की कोई विरासत उनके पास नहीं थी इसलिए आरंभ में उन्हें काफी संघर्ष करना पड़ा। महिला होने की वजह से भी उनके लिए मुश्किलें आईं। उन्हीं के शब्दों में, ‘‘मैं नहीं समझ पाती कि लोग आम तौर पर महिलाओं के साथ सहानुभूति क्यों दिखाते हैं? मैंने इस तरह की टिप्पणियाँ भी सुनी हैं कि औरत है, क्या बजाएगी। या फिर, लेडीज हैं, थोड़ी देर सुन लो। खूबसूरत पर्सनालिटी है, अच्छा बजाएगी।’’ कुछ लोग इस बात से सहमत हो सकते हैं कि एक संगीतकार के तौर पर वास्तव में महिलाओं को पुरुषों से चुनौती झेलनी पड़ती है। कमला हालांकि इससे डिगी नहीं। वे कहती हैं, ‘‘औरत होने को लेकर की जाने वाली टिप्पणियों से मैं बिल्कुल प्रभावित नहीं हुई। मैं अपने भीतर नकारात्मकता को प्रवेश नहीं करने देती। धार्मिक व्यक्ति होने के नाते मैं आध्यात्मिक ग्रंथों से शक्ति प्राप्त करती हूँ और यह मुझे व्यक्ति के तौर पर मजबूत बनाता है।’’

कमला ने अपने मीठे सुरों से दुनिया का दिल जीत लिया है। उन्हें अपने वाद्य यंत्र पर बेहतरीन नियंत्रण और विविधतापूर्ण वादन के लिए जाना जाता है। कमला इस बात को लेकर चिंतित हैं कि हवाइयन गिटार अब मंचों पर दुर्लभ हो चला है। इसके नामलेवा भी थोड़े ही हैं। कई दुकानों ने इसे बनाना तक बंद कर दिया है। किसी जमाने में बॉलीवुड संगीत की जान रहा यह गिटार अब संकट में है। उनके पास हालांकि कुछ चुनिंदा विद्यार्थी हैं जो हिन्दुस्तानी शास्त्रीय शैली में हवाइयन गिटार की शिक्षा ले रहे हैं।

वे खासकर गरीब बच्चों को संगीत सिखाती हैं। ‘‘संगीत साझा करने की चीज़ है और अगर हमें कलाकारों की अगली पीढ़ी तैयार करनी है तो कुछ हटकर सोचना होगा।’’ हालांकि वे खुद भी गुरु-शिष्य परंपरा में दीक्षित हैं पर उनका मानना है कि गुरुओं को ज्यादा व्यवस्थित होना चाहिए और शिष्यों को व्यवस्था से काट नहीं देना चाहिए, उनकी राय में, ‘‘गुरू-शिष्य परंपरा को आधुनिक समय में विद्यार्थियों की जरूरत के हिसाब से खुद में बदलाव लाना चाहिए।’’ इसी उद्देश्य से उन्होंने शंकर फाउंडेशन की स्थापना की है। वे बताती हैं कि फाउंडेशन का मुख्य उद्देश्य संगीत में उच्च कौशल और प्रशिक्षण देना है। इसके अलावा वे ऐसे कलाकारों को प्रोत्साहित करना और आगे बढ़ाना चाहती हैं, जो प्रतिभाशाली हों न कि सिर्फ उनको, जिन्हें संगीत विरासत में मिला हो।

कमला नियति में विश्वास करती हैं। दंत चिकित्सा की प्रवेश परीक्षा में पास होने के बावजूद उन्होंने संगीत को चुना और बीएचयू से संगीत में डॉक्टरेट किया। वे कहती हैं, ‘‘इसी को मैं ईश्वरीय इच्छा कहती हूँ।’’ ईश्वर जब किसी खूबसूरत राग की रचना कर रहा होगा तो कमला जरूर उसमें एक खूबसूरत स्वर के रूप में उपस्थित रही होंगी।

इंडिया टुडे में **एस.सहाय रंजीत**

स्मृति शेष

जन्म : जून 15, 1932, उदयपुर

शिक्षा : ध्रुपद गायन और वीणा वादन **गुरु** : जियाउद्दीन डागर (पिता) तथा जिया मोहिउद्दीन डागर अग्रज और ख्यात वीणावादक **सम्मान** : तानसेन सम्मान और पद्मश्री जो उन्होंने ठुकरा दी। संगीत नाटक अकादमी सम्मान

निधन : 8 मई, 2013, मुंबई

रस-प्राण गायक

ज़िया फरीदुद्दीन डागर

रामप्रकाश त्रिपाठी

उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागर को मैं जानता था। जानता क्या था इस बुलन्द आवाज़ गायक का मुरीद था। ग्वालियर तानसेन समारोह में मैंने उन्हें अपने बड़े भाई जिया मोहिउद्दीन डागर के साथ वैसे ही गाते हुए सुना है, जैसे आज हम गुंदेचा बंधुओं को सुनते हैं। ठीक से याद नहीं तानसेन समारोह में सुना था या शंकर गांधर्व महाविद्यालय की हीरक जयंती में या भारतीय संगीत महाविद्यालय के पलुस्कर समारोह में। बहरहाल एक बार उन्होंने सूरदास का एक पद ध्रुपद में बांध कर गाया था- झहरात-महरात दावावल आयो है, घेर चहुंओर कर सोर अंदोर वन, धरनि अकास चहुँपास छायो है...। तब पहली बार समझ में आया कि स्वरों की चित्रकारी क्या होती है और उनका भैरव नर्तन कैसा होता है। मैं भले ही संगीत-अल्पज्ञ हूँ पर उस दिन की आवाज का घनघोर घटा गर्जन और तर्जन आज भी दिमाग में उसी तरह कौंध रहा है जैसे वे सामने हों और गा रहे हों। अपनी कम उम्र में मैंने उनका एक इंटरव्यू लेकर दैनिक निरंजन (ग्वालियर) में छापा भी था।

मैं जब ध्रुपद केन्द्र गया और कहा कि- मैं रामप्रकाश त्रिपाठी, तो वे अट्टहास करके हँसे, बोले मैं जानता हूँ। मैं चकित। वे हंसते हुए बोले- शैतान से तो खुदा भी डरता है। मैं तो इंसान हूँ। मैंने काँपते हाँथों उनके पाँव छुए। कहा- हम होली मना रहे हैं। इस दिन सांप्रदायिकता को होली की तरह जलाएँगे भी। उस्ताद ने तुरंत हाँ की। बोले इस यज्ञ में डागरों की आहुति तो जरूरी है। वे सांप्रदायिक दंगों से बहुत व्यथित थे। कहने लगे- अल्लामा इकबाल होते तो मैं उनसे पूछता- मजहब नहीं तो कौन सिखाता है आपस में बैर रखना। एक क्षण खामोश रहकर बोले- हालाँकि उनका मजहब वह मजहब नहीं था, जिसका शोर आज सड़कों पर बरपा है। विनोद रायना साथ थे, तपाक से बोले- इसीलिए हमने सांस्कृतिक मोर्चे के शांति जुलूस का नारा बनाया था- सब रंगों का एक ही नाम-हिन्दोस्तान-हिन्दोस्तान। बहरहाल होली की उस रात भोपाल के पत्रकार भवन के प्रांगण में उस्ताद ने शिवस्त्रोत सुनाया। उनके साथ उमाकांत-रमाकांत गुंदेचा भी थे। बरसों बाद उनके स्वरों में वही गर्जन-तर्जन मिला जो कभी मैंने सूरदास के उस पद को सुनते हुए अनुभव किया था। अवसर भले ही होली का था, बंदिश भले ही शिवस्त्रोत केन्द्रित थी लेकिन घन-गरज सांप्रदायिकता के मुखालिफ ही थी। जाहिर है वे महफिल के लिए नहीं मकसद के लिए गा रहे थे। सिर्फ कंठ से नहीं दिल से गा रहे थे। हमारे निमंत्रण पर केवल एक बार ही उन्होंने गाया। उसके लिए न उन्हें मनाना पड़ा, न मिन्नतें करनी पड़ीं। आज के लाखों में तैरने वाले शास्त्रीय गायकों जैसा कोई नखरा भी उनमें नजर नहीं आया। लगा, संगीत उनके लिए लोक आराधन भी है और आत्मतोष भी। ऐसे संगीतज्ञ देते ही देते हैं।

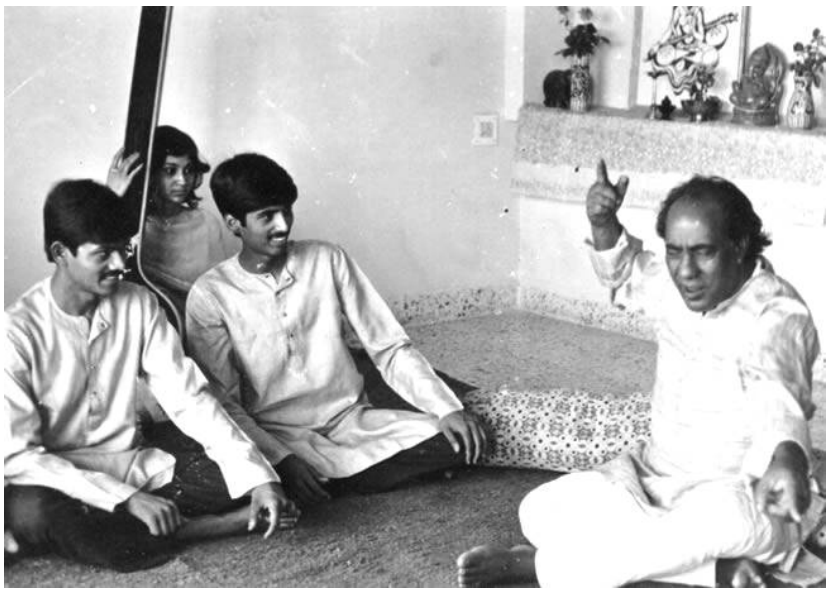

भोपाल स्थित ध्रुपद केन्द्र की एक दुर्लभ छवि : शिष्यों (उमाकांत-रमाकांत गुंदेचा) को ध्रुपद की तालीम देते उस्ताद।

शायद 19 पीढ़ियों की डागर-परम्परा की यही सिफत हो। भोपाल में वे करीब पच्चीस साल रहे। मैं उनसे बहुत कम मिला। अलबत्ता सुना खूब। ध्रुपद गायकों में प्रायः रूक्षता पायी जाती थी। मेरा रुचि-बोध पहले खयाल की परिधि से आगे नहीं जाता था। विष्णु पद-ध्रुपद मेरे लिए वैसे ही अकादमिक थे, जैसे जयशंकर प्रसाद के नाटक। मेरी इस धारणा को बदला जिया फरीदुद्दीन डागर साहेब ने। वे कतई रूक्ष नहीं लगे बल्कि भरपूर रसप्राण लगे।

आज वे नहीं हैं। आठ मई को वे संगीत को, ध्रुपद को और दुनिया-जहान को अलविदा कहकर चले गए हैं। एक रिक्ति छोड़ गए हैं, हर संगीतप्रेमी के मन में। भोपाल में उनकी परम्परा के संवाहक गुंदेचा बन्धु हैं जिन्होंने ध्रुपद केन्द्र की स्थापना करके देश-विदेश में उनकी कला का संप्रेषण कर रहे हैं।

यह सही है कि जिया फरीदुद्दीन डागर सिद्ध ध्रुपद गायक थे, लेकिन वीणा वादक भी वे मामूली नहीं थे। यह और बात है कि इस कला का प्रदर्शन उन्होंने गाहे-ब-गाहे ही किया है। इस बाबत् सवाल पूछने पर वे हंस कर रह गए थे। वीणा, उसकी व्याप्ति और गुणधर्म पर तो बहुत बात की लेकिन वीणावादन को अपनी प्रदर्शनकारी कला क्यों नहीं बनाया इस पर खामोश ही रहे।

ऐसी दुर्लभ प्रजाति के संगीत साधक अब नहीं मिलते जिन्होंने आरंभिक दौर में बहुत गुरबत में दिन गुजारे, संघर्ष किया मगर, लक्ष्मी के इन्द्रजाल में कभी फंसे नहीं। मणि कौल ने उन पर एक फिल्म बनाई है- ध्रुपद। मणि कौल की सिर्फ और सिर्फ यही फिल्म मुझे पसंद आयी है। गुंदेचा-बंधुओं ने उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए ठीक ही कहा है कि उनके जैसा सुरों के समंदर में डूबा हुआ मनीषी अब पैदा होना मुश्किल है। यही सार 'ध्रुपद' का भी है। मैं सिर्फ इतना जोड़ना चाहता हूँ कि वे ऐसे गुरु थे जिन्होंने अपने शिष्यों को संगीत के भवसागर को पार करना सिखाया। उनके नामचीन शिष्य सारी दुनिया में हैं।

''माँ ने हमें आशीर्वाद देकर राजस्थान से बम्बई भेजा। कहा- मैंने तुम्हें पैदा किया है, तुम दोनों भाई अपनी माँ का दूध मत लजाना। कुछ बनकर ही आना। हम दोनों भाई बम्बई में माहिम में रहकर कठोर संघर्ष से गुज़रे। फुटपाथ की ज़िंदगी का भी स्वाद चखा और भूख-प्यास की कसक भी महसूस की। हम समंदर के किनारे एकांत में जाकर रियाज़ करते। उस्ताद मुझे तालीम देते और बिना एक पल गँवाए उसे अपने भीतर उतारने में जुट जाता।''

ध्रुपद गुरु तथा गायक ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर ने विनय उपाध्याय से साझा की स्मृतियाँ

भाई के वो सबक कभी भूला नहीं

ज़िया मोहिउद्दीन डागर

अपने बड़े भाई उस्ताद ज़िया मोहिउद्दीन डागर की स्मृति मेरे लिए अमूल्य निधि की तरह है। एक साये की तरह वो मेरी ज़िंदगी का हमसफ़र रहे। सोचता हूँ, वो न होते तो शायद संगीत की सच्ची इल्म से वंचित रह जाता। वो उम्र में मुझसे तीन साल बड़े थे, पर वे बड़े भाई के साथ ही सच्चे गुरु और मित्र की तरह मेरा साथ निबाहते थे। हमारे परिवार की संगीत परंपरा और विरासत की उन्होंने बड़ी जतन से हिफ़ाज़त की। मुझे न केवल जीवन जीने के गुर सिखाए बल्कि संगीत की पवित्रता को समझने और उसे आदर के साथ समाज में बाँटने की प्रेरणा भी दी।

ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर

अपने अग्रज उस्ताद के अतीत को याद करता हूँ तो मेरे ज़हन में वो समय कौंधता है, जब उनकी मृत्यु के बाद भारत आज़ाद हो गया था तथा राजदरबार टूटकर स्टेट में बदल गए थे। कलाकार छिन्न-भिन्न हो गए थे। उनकी रोज़ी-रोटी और सम्मान छिन गया था। हमारी हालत भी खराब हो गयी थी। माँ ने हमें आशीर्वाद देकर राजस्थान से बम्बई भेजा। कहा- मैंने तुम्हें पैदा किया है, तुम दोनों भाई अपनी माँ का दूध मत लजाना। कुछ बनकर ही आना। हम दोनों भाई बम्बई में माहिम में रहकर कठोर संघर्ष से गुज़रे। फुटपाथ की ज़िंदगी का भी स्वाद चखा और भूख-प्यास की कसक भी महसूस की। हम समंदर के किनारे एकांत में जाकर रियाज़ करते। उस्ताद मुझे तालीम देते और बिना एक पल गँवाए उसे अपने भीतर उतारने में जुट जाता। बम्बई में धीरे-धीरे हमें फिल्मों में टेक बजाने का मौका मिल गया। आजीविका के छिटपुट साधन तैयार हो गए। बम्बई में ही उस्ताद के कई शागिर्द बने। उन्होंने मुझे भी अपना शिष्य माना और मैंने उन्हें अपना गुरु।

उन्होंने सीख दी- जीवन में कुछ हासिल करना है तो गुरु के प्रति श्रद्धा रखनी होगी। हम लोग वापस उदयपुर आ गए। माँ बेहद ख़ुश हुई। हम कुछ समय बाद पुनः आए और फिर एक नया सफ़र हमने शुरु किया। दोनों भाई संगीत के विषय पर विचार करते। जो बात उचित होती उसे स्वीकार करते। हम दोनों के बीच एक अच्छा सामंजस्य था। यह वह दौर था जब बम्बई की व्यावसायिक चकाचौंध हर कलाकार को आकर्षित कर रही थी पर उस्ताद का मानना था कि हम जिस लक्ष्य को लेकर वहाँ आए हैं उसी पर हमें एकाग्र रहना चाहिए और यह उन्होंने चरितार्थ भी किया। वहाँ हम साथ-साथ जुगलबंदी करते। रात-रात भर शिष्यों के यहाँ गाते। उस्ताद की शख़्सियत की खूबी यह थी कि उनके भीतर एक अच्छा संगीतकार, कुशाग्र ज्योतिषी, गहरा दार्शनिक और प्रतिभाशाली वास्तुविद् छिपा था। मुझे अच्छी तरह याद है, पिताजी की वीणा को उन्होंने कई बार तोड़-मरोड़कर नई शक्ल दी और उसमें से नई खोज, नए आविष्कार करने में लग गए। जब अपनी सूझबूझ के

साथ तैयार किए गए नक्शे को लेकर वे वीणा बनवाने कलकत्ता गए तो कारीगर दंग रह गया। कहने लगा कि उसने अपने जीवन में कभी ऐसी वीणा नहीं बनायी।

मेरा मानना है कि ध्रुपद के दो सौ साल के इतिहास में उस्ताद जैसी वीणा बनाने वाला कोई और नहीं हुआ। आगे उनकी ही संतान ऐसा कर पाये तो यह समय ही बताएगा। उनकी वीणा बजाने की तकनीकी भी जुदा थी। कैसे तारों को सुर में मिलाना, श्रुतियाँ कैसे उसमें बिठा, कितनी देर किस अंदाज़ में किस गहराई में डूब के आलाप बजाना, मीड़ के साथ गंभीरता और संवेदनशीलता का ध्यान रखना और इन सबसे ऊपर अपने ऐसी कल्पनाशीलता का प्रयोग करना कि सुनने वाला उसमें अपने चित्र खोजने लगे। रुद्र वीणा का ऐसा साधक तो मैंने नहीं देखा। तपस्वी, परिश्रमी और संवेदनशील।

उस्ताद ने मेरे उत्साह और प्रतिभा को देखते हुए यूरोप-अमेरिका की ध्रुपद यात्रा के लिए प्रेरित किया। उन्होंने कहा - जा, बाहर अपनी कला का प्रदर्शन कर, अनुभव ले लोगों के बीच जाकर। इस सिलसिले में डॉ. ऋत्विक सान्याल और फिल्मकार मणिकौल भी हमसे जुड़े। कौल ने म.प्र. आकर 'सतह से उठता आदमी' फिल्म बनायी। उसमें मेरी सेवाएँ ली। मैं भी भोपाल आया तभी तत्कालीन अशोक वाजपेयी से भेंट हुई। उन्होंने मुझे भोपाल में रहकर ध्रुपद प्रशिक्षण का प्रस्ताव दिया। मैं जब यहां ध्रुपद प्रशिक्षण देने आया तो दो माह का विशेष ध्रुपद प्रशिक्षण देने बड़े उस्ताद भी भारत भवन आए। तब ख़ूब बातचीत हुई उनसे नए शिष्यों की, जिज्ञासुओं की। उन दिनों की रिकॉर्डिंग भी भारत भवन में संग्रहित है, जो अत्यंत यादगार और क़ीमती है। मेरा कहना है कि उस्ताद की सांगीतिक धरोहर जो पुरातत्व की तरह संग्रहालय में क़ैद है, नई पीढ़ी के शिष्यों के लिए आज़ाद की जानी चाहिए। वे इसे सुनें, गुनें और चरितार्थ करें। उस्ताद एक महान गुरु थे। उनमें ज़बर्दस्त धैर्य था। वे कहते थे- एक सच्चे गुरु में धैर्य होना निहायत जरूरी है, तभी वह अपने शिष्य को ठीक से समझ सकता है, उसे तालीम दे सकता है। गुरु को विनम्रता से अपने शिष्य के सामने पेश आना चाहिए। भय दिखाकर न तो संगीत की सीख दी जा सकती है और न ही शिष्य के मन में आदर पाया जा सकता है।

उनका मानना था कि गुरु कभी-कभी अपने शिष्य से भी शिक्षा ले सकता है। बशर्ते वह शिष्य को पूरी तरह खुलकर प्रस्तुत होने का मौका दे। आज जबकि मैं अपने शिष्यों को ध्रुपद का प्रशिक्षण दे रहा हूँ तो ये बातें पूरी तरह से उन पर लागू करता हूँ। उस्ताद से मिले ये नायाब गुर मेरे लिए सफलता और और सुख के आधार हैं, बल्कि कहूँ कि मंत्र हैं, तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। मैं तो थोड़ा उग्र भी हूँ लेकिन उस्ताद एक शांत निर्मल झरने की तरह थे। मुझे याद नहीं आता कि वे मुझ पर और अपने दीगर शागिर्दों पर किसी बात पर बरसे हों। एक मूर्धन्य कलाकार होकर भी, लोकप्रियता के पीछे वे कभी नहीं भागे। किसी जोड़-तोड़ में नहीं रहे। वे स्वाभिमानी कलाकार थे। दुर्भाग्य है कि ऐसे संगीत मनीषी को भारत में यथोचित सम्मान नहीं मिला। आज उनका अवदान अंधेरे में खो गया है।

आकाशवाणी, भारत भवन, म.प्र. कला परिषद् उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ संगीत अकादेमी को चाहिए कि वे उनकी पुरानी रिकॉर्डिंग के सी.डी. बनवाए, ध्रुपद के नवोदित शिष्यों के सामने उसे शोध के लिए प्रस्तुत करें। यहाँ मैं श्री अशोक वाजपेयी को साधुवाद देना चाहूँगा कि उन्होंने अपने कार्यकाल में उस्ताद और हम जैसों को ससम्मान बुलाया और कुछ सार्थक करने का अवसर दिया। दिनों-दिन बढ़ती जा रही व्यावसायिकता और तेज़ी से शिखर पाने की लालसा में ध्रुपद की असल चमक, उसकी मौलिकता खत्म होती जा रही है। ध्रुपद को जनता के बीच आधुनिक स्वरूप में पेश करने की गरज़ में खोखला बनाने का अभियान चल रहा है। ऐसे में मुझे अपने उस्ताद का धीरज फिर से याद आ रहा है।

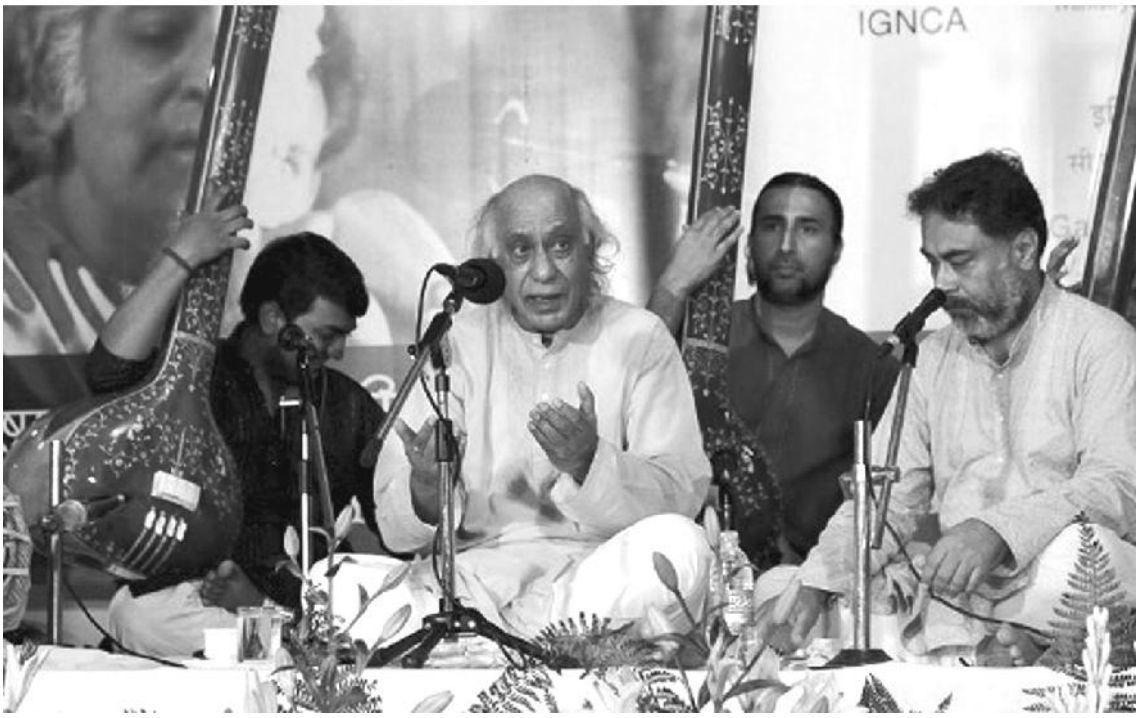

याद

शमशाद बेगम

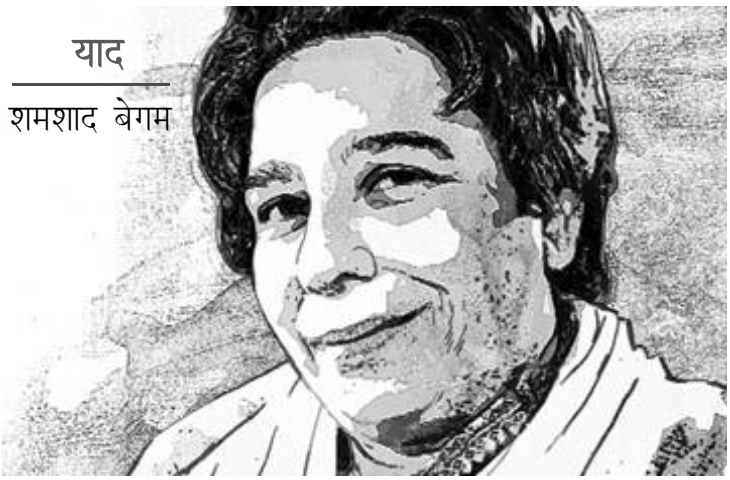

आवाज़ का वो नमकीन जायका

लगभग दो दशक से मेरा शमशाद बेगम, उनकी बेटी उषा तथा दामाद कर्नल योगराज खन्ना से बातचीत, मिलना-जुलना रहा। मीडिया और प्रचार से सदैव दूर रहने वाली इस महान गायिका से मेरा यह पारिवारिक मिलाप मेरे परिचितों के लिए किसी आश्चर्य से कम न था। दो वर्ष पहले जब मुझे राष्ट्रीय फिल्म संग्रहालय से शमशाद बेगम पर फिल्म बनाने का आमंत्रण मिला तो यह मेरे लिए एक अवसर था उन्हें और जानने, समझने का।

अविभाजित भारत के लाहौर शहर में शमशाद बेगम का जन्म 14 अप्रैल 1919 को हुआ था। बचपन से ही शमशाद की रुचि गीत-संगीत में थी। अपने विद्यालय में दुआ यानी प्रार्थना वह ही गाया करती थीं। उनकी आवाज एक अनूठे किस्म की खनक लिए थी जो हर किसी को अपनी तरफ आकृष्ट करती थी। शादी-व्याह या किसी जलसे में सबसे पहले शमशाद को ही गीत गाने का न्यौता भेजा जाता था। शमशाद के गायन की प्रसिद्धि तब इतनी बढ़ चुकी थी कि नौ वर्ष की अल्पायु में ही उन्हें पेशावर रेडियो स्टेशन से गीत गाने का निमंत्रण मिला। शमशाद बेगम ने पेशावर रेडियो स्टेशन से पश्तो भाषा में अपने जीवन का पहला गीत गाया था। इसके बाद तो रेडियो पर गाने का सिलसिला चल पड़ा। लाहौर, दिल्ली, लखनऊ तथा देश के कई रेडियो स्टेशन से निकलती उनकी आवाज घर-घर में जानी पहचानी जाने लगी। भारतीय सिनेमा तब लाहौर, कलकत्ता और बंबई में अपनी तरुणाई लिए फलने-फूलने लगा था। लाहौर की प्रसिद्ध फिल्म कंपनी पंचोली आर्ट्स की 1940 में आई पंजाबी फिल्म 'यमला जट' में शमशाद ने पंजाबी भाषा में पहला गीत गाया था।

पहली बार 1941 में आई हिन्दी फिल्म खजांची में उनके गाए सभी गीतों ने पूरे भारत में धूम मचा दी। संगीतकार मास्टर गुलाम हैदर के संगीत निर्देशन में गाया 'सावन के नजारे हैं...' आज भी हिन्दी सिने गीतों के इतिहास के सदाबहार गीतों में से एक है। हिन्दी सिनेमा में पार्श्व गायन शुरू हो चुका था और इसकी मुख्य कड़ी के रूप में शमशाद बेगम का योगदान इस विधा को आगे बढ़ाने में आज एक महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में स्थापित हो चुका है। चालीस से साठ के दशक में शमशाद बेगम की शीर्ष लोकप्रियता का भान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस संपूर्ण कालखंड में सिने संगीत में कई नए अध्याय जुड़े, ढेरों बदलाव आए लेकिन शमशाद का स्वर सौंदर्य वैसे ही ऊंचाई पर रहा। यूं तो अपने समय के लगभग सभी संगीतकारों के साथ शमशाद बेगम के गाए गीतों की धूम रही पर नौशाद, एस.डी. बर्मन, सी. रामचंद्रन, ओ.पी. नैय्यर के संगीत निर्देशन में गाए उनके गीत विशेष रूप से उल्लेखनीय रहे। गायक मुकेश के साथ शमशाद के गाए युगल गीत इसलिए भी विशेष रूप से पसंद किए गए क्योंकि इन दोनों ही आवाजों में कई प्रकृतियाँ अद्‌भुत रूप से समान थीं। शमशाद बेगम के लोकप्रिय गीतों की सूची बहुत लंबी है। अनमोल घड़ी, शाहजहाँ, दर्द, शहनाई, अनोखी अदा, आग, जिद्दी, मेला, अंदाज, दिल्ली, दुलारी, शबनम, सुनहरे दिन, आँखें, जोगन, बाबुल, आवारा, दीदार, बाजी, आन, बैजू बावरा, नगमा, रेल का डिब्बा, आर-पार, शबाब, मिस्टर एंड मिसेज 55, सी.आई.डी. आदि। प्रारंभिक समय में शमशाद बेगम द्वारा गाई प्रसिद्ध आरती 'जय जगदीश हरे' अत्यधिक लोकप्रिय हुई थी। इसी क्रम में एक भक्ति गीत 'तेरे पूजन को भगवान बना मन मंदिर' को भला कोई कैसे विस्मृत कर सकता है। महात्मा गाँधी के निधन के समय तब एक विशेष श्रद्धांजलि गीत शमशाद ने गाया था जिसमें दर्द और करुणा का पुट कुछ इस प्रकार उन्होंने पिरोया था जिसे सुन कर तब हर व्यक्ति की आँखें नम हो गई थीं।

फिल्म हिम्मत के लिए शमशाद ने अजीज कश्मीरी का लिखा और पंडित गोविंद राम द्वारा संगीतबद्ध किया गया गीत 'इन्हीं लोगों ने ले लीना दुपट्टा मेरा' गाया था जो आगे के वर्षों में फिल्म 'पाकीजा' में लता मंगेश्कर ने गाया था। आश्चर्य तो इस बात का है कि पाकीजा में इस गीत के साथ इसके मूल गीतकार और संगीतकार के नाम के स्थान पर क्रमशः मजरूह सुल्तानपुरी और गुलाम मोहम्मद का नाम दिया गया है। शमशाद ने विधिवत संगीत की शिक्षा नहीं ली थी। शमशाद बेगम के वैवाहिक एवं पारिवारिक जीवन के संबंध में कभी न कुछ लिखा गया और न ही कोई जानकारी कभी किसी को रही।

शमशाद बेगम ने पेशे से वकील रहे गनपत लाल बट्टो से प्रेम विवाह किया था। हिन्दू से विवाह के बाद भी अपने अंतिम दिनों तक शमशाद बेगम नमाज़ भी पढ़ती रहीं और पूजा भी करती रहीं। मुंबई में शमशाद अपनी इकलौती बेटी उषा और दामाद कर्नल योगराज खन्ना के साथ रह रही थीं।

शमशाद बेगम की इच्छा थी कि उनके निधन का समाचार तब तक सार्वजनिक न किया जाए जब तक उनका अंतिम संस्कार न हो जाए। साथ ही इस अवसर का कोई चित्र भी न लिया जाए। शमशाद की इच्छानुसार ही उनका दाह संस्कार को सर्वधर्म प्रार्थना के साथ कर दिया गया।

-डॉ. राजीव श्रीवास्तव (आउटलुक से साभार)

आबाद कर देता हूँ वीराना

कला की चौहद्दी में कदम रखने वाले ऐसे किरदार आज बिरले ही होंगे जो मान-पान और प्रसिद्धि के आसमान नापने की गरज से परे स्वांतः सुखाय अपने सृजन में लीन हों। लेकिन बेनू गांगुली नाम और शोहरत की तमाम लिप्साओं से दूर अपने काम में गहरे वाबस्ता रहे और संघर्ष कर रहे साधनों से वंचित कलाकारों के लिए मदद का खुला हाथ फैलाते रहे। बावजूद इसके कभी प्रतिदान की अपेक्षा नहीं की। बेनू गांगुली यानी भोपाल के रंगमंच पर अभिनय, निर्देशन, तकनीक और नेपथ्य को साधने वाला धुनी कलाकार। शिल्पकार। खिलाड़ी। पाक कला में माहिर... और भी बहुत कुछ। जीवन के 81 शरद-वसंत जीकर अचानक यह अजीम फनकार दुनिया-ए-फानी को अलविदा कह गया।

याद

बेनू गांगुली

युवा 'बेनू' ने भोपाल के रंगमंच को उस दौरान अपनी मजबूत सक्रिय पहल से थामा था जब भोपाल का नाट्य जगत चुनौतियों से भरा पड़ा था। भारत भवन की स्थापना तब तक नहीं हुई थी। लेकिन उनका वह जीवट भरा योगदान प्रदेश की कला संस्कृति में 'रंगमंच' के नए उत्साह की स्थापना करने वाला था। 'रंग शिविर' संस्था के बैनर पर नये कदम रखने वाले उनके कई शागिर्द आज राष्ट्रीय स्तर पर विख्यात हो गये। 'बेनू' दा लेकिन वहीं अडिग रहे। खामोशी से उनके बोये बीजों को लहलहाते हुए निहारते रहे। 'बेनू' को प्रख्यात रंगकर्मी ब.व. कारंत का पहला शिष्य होने का गर्व रहा। विख्यात अमेरिकन रंगकर्मी रिचर्ड शेखनर के महत्वपूर्ण प्रोडक्शन 'द मदर करेज' के लिये एसोसिएट टेक्नीकल डायरेक्टर के रूप में मध्यप्रदेश सरकार ने उन्हें बंबई भेजा था। 'मुक्तिबोध' पर बनी मणि कौल की फिल्म में उन्होंने 'ओमपुरी' के साथ अपना यादगार अभिनय किया था और सुहासिनी मुले की फिल्म 'लॉस्ट लैण्ड' भी इसी बेनू के अभिनय की बानगी के लिये ख्यात रही।

अपने युवा समय में बेनू बांग्ला और हिन्दी रंगमंच के प्रख्यात पत्रकार एवं लेखक तरुण कुमार भादुड़ी के साथ गहरी सक्रियता से जुड़े रहे। जनवरी 2013 में 'बंगाली एसोसिएशन, टी.टी. नगर, भोपाल' ने बेनू गाँगुली की सुदीर्घ 35 बरसों की कला साधना के लिये 'लाइफ टाइम अचीवमेंट' से भारत भवन के सभागार में जब नवाजा तो बमुश्किल सम्मान के लिए सहमत हुए बेनू का दिल भर आया। बेनू के दूसरे महत्वपूर्ण आयाम 'सिरेमिक्स कला' में पूरी निष्ठा और लगन से 1984 से अब तक किया दक्षतापूर्ण सृजन मुंबई, कलकत्ता की 'पण्डोल' और 'जहाँगीर आर्ट गैलेरी', बिरला अकादमी जैसी ख्यातनाम कला दीर्घाओं में अपनी विशिष्ट पहचान छोड़ गया। इस कला में उनकी जैसी मिसाल पूरे प्रदेश में कहीं नहीं मिलेगी। 'पॉटरी' कला बेहद चुनौतीपूर्ण माध्यम है और बेहद तकनीकी भी। लेकिन बेनू की लगन ने इसे बखूबी साध लिया था। बेनू ने डाक तार विभाग में अधिकारी के पद पर रहते हुए 'भोपाल गैस काण्ड' के समय में देशी-विदेशी पत्रकारों को उस भीषण 'डिज़ास्टर' की रिपोर्टिंग के संदर्भ में रात-दिन लगकर मदद की थी, दूरदराज़ रहने वाले भारतीयों को 'तार' द्वारा 'मेन्युअली' खबरें पहुँचाने की जिम्मेदारी उन्होंने बखूबी निभायी थी जिसकी अपार प्रशंसा अंतर्राष्ट्रीय अख़बारों के उन पत्रकारों ने लिखकर उन्हें भेजी थी। इस सबका ज़िक्र उन्होंने किसी से अनपे मुँह से कभी नहीं किया। पर सबूत आज भी बेनू की संदूक में महफूज़ हैं।

बेनू जब अपने साथ के नौसिखियों के सम्मान और प्रसिद्धि की खबरें सुनते तो बेहद खुश होते। कुंठा और ईर्ष्या उन्हें छू तक नहीं पायी। वे बेबाक और साफ दिल के कलाकार थे। बेनू कहा करते थे- अकेला हूँ मगर आबाद कर देता हूँ वीराना... उन्हें प्यार करने वाले, उन्हें समझने वाले ही इसका मर्म समझेंगे।

बेनू को अपने छोटे से परिवार का साथ बेहद प्यारा था। उसे वे अपने हरे-भरे बगीचे की तरह सींचते रहे। बेटा 'अरूप' उन्हीं की देखरेख में मध्यप्रदेश का 'नंबर वन' टेनिस प्लेयर हो पाया। वो सानिया मिर्ज़ा के साथ खेला। आज अमेरिका की 'बॉश' कम्पनी में सॉफ्टवेयर इंजीनियर है। विश्व के सर्वोच्च विश्वविद्यालय कार्निगी मेलन यूनिवर्सिटी में बेनू ने अपने बेटे 'अरूप' को एम.एस. करने भेजा। वहाँ भी मेरिट में दूसरा स्थान बनाकर उसने अपने पिता की इच्छाओं को पूरा किया।

बेनू जितने अच्छे रंगकर्मी थे, जितने अच्छे सिरेमिक कलाकार थे, उतने ही बेहतर फुटबॉल खिलाड़ी भी रहे। उन्होंने डूरण्ड कप, रोबर्स कप टूर्नामेंट राष्ट्रीय स्तर पर खेले हैं। गोलकीपर के रूप में उन्हें कई संस्थाएँ विशेष रूप से खेलने को आमंत्रित करती थीं। प्रसिद्ध फुटबाल खिलाड़ी मेवालाल जिन्हें हाल ही में कलकत्ता में 'लाइफ टाइम अवार्ड' से नवाजा है- बेनू उनके साथ कई बार मैदान मार चुके हैं। यह खामोश प्रतिभा किसी के सामने कभी उजागर नहीं हुई। बेनू का एक और गहरा लगाव अच्छे व्यंजन बनाना भी रहा। 'बेनू दा' का बना स्वादिष्ट भोजन का स्वाद बरसों कला जगत के नामी गिरामी लोगों तथा मित्रों ने चखा है। वे उन्हें इस गुण के कारण भी कभी भी भूल नहीं सकते। अपनी चित्रकार पत्नी मंजूषा गांगुली के साथ भोपाल की प्रोफेसर्स कॉलोनी में वक्त गुजारते हुए बेनू जब अपने साथ के नौसिखियों के सम्मान और प्रसिद्धि की खबरें सुनते तो बेहद खुश होते। कुंठा और ईर्ष्या उन्हें छू तक नहीं पायी। वे बेबाक और साफ दिल के कलाकार थे। बेनू कहा करते थे- अकेला हूँ मगर आबाद कर देता हूँ वीराना... उन्हें प्यार करने वाले, उन्हें समझने वाले ही इसका मर्म समझेंगे।

भारतीय शास्त्रीय संगीत की अनूठी विशेषता है कि यह समय-सापेक्ष और ऋतु सापेक्ष है। इसमें दिन और रात के आठों प्रहर और छः ऋतुओं में हर प्रहर और हर ऋतु में गाए-बजाए जाने वाले राग हैं। आम तौर पर राग पूर्व निर्धारित समय और निश्चित ऋतु के अलावा, चाहे जब गाए-बजाए नहीं जाते। कर्नाटक संगीत की परम्परा के विपरीत हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में खास तौर पर यह प्राचीन और लगभग हठधर्मी जैसी परम्परा है। वर्षा ऋतु में गाये बजाने वाले राग 'मल्हार' राग कहलाते हैं।

महक मल्हार की

राम मेश्राम

आचार्य वृहस्पति के अनुसार 'मल्हार' शब्द का अर्थ है ''मल्ल (पहलवान) के समान (झूमता हुआ) चलने वाला। दूसरे मत के अनुसार 'मल्हार' शब्द की उत्पत्ति ''मल यानि मैल के परिहरण'' अर्थात् मैल खत्म करने के अर्थ वाले शब्दों के संयोग से हुई है। बारिश के पहले, गर्मी की ऋतु के अत्यंत खुश्क, जलते मौसम में धरती का उष्ण वातावरण, पसीने से सराबोर दुर्गन्धमय और बेहद गर्म हो जाता है। बारिश की बौछारें इस धूलिमय, गर्म, मैल भरे वातावरण को हर लेती है, अर्थात् सारा मैल बहा ले जाती हैं। वातावरण के मलमय परिवेश हरण या परिष्कार का नाम मलहार या मल्हार है।

तीसरा मत प्रो. रसरंग का है कि 'मल्हार राग' स्वरों का वह संयोजन है, जिसके गायन-वादन से प्रकृति प्रभावित होती है। ग्रीष्मकालीन वतावरण को संतप्त जीव-जन्तु और वनस्पति जगत अर्थात् समस्त सृष्टि मल्हार की स्वर संगति के संगी (गायन-वादन) से प्रभावित होती है जिससे जलवृष्टि होती है। वर्षा से धरती के अग्निमय माहौल में शांति और शीतलता की जो अनुभूति होती है- वह 'मल्हार' है।

छाया : आभा भारती

आचार्य वृहस्पति के अनुसार - 'वर्षा ऋतु के भीगे हुए वातावरण में मल्हार राग उद्दीपक (उत्तेजना बढ़ाने वाले) होते हैं।' मल्हार रागों का गाना-बजाना मन पर जमे अवसाद, कुण्ठाओं और विकृतियों का परिष्करण करता है। मल्हार रागों को इतनी छूट है कि वर्षा ऋतु में उन्हें दिन-रात के किसी भी समय गाया बजाया जा सकता है। मल्हार रागों की स्वरावली सुनकर आभास होता है कि अधिकांश मल्हार रागों की उत्पत्ति भारतीय सामाजिक पर्वों पर गाए-बजाए जाने वाले लोक संगीत से हुई है। आचार्य वृहस्पति के अनुसार 'शुद्ध मल्हार' में अन्य रागों का मिश्रण करके गुणीजनों ने अनेक प्रकार के मल्हार राग बनाए हैं। मल्हार रागों की अति प्राचीनता इसी से सिद्ध होती है कि संगीत के प्रथम ६ आदि रागों में एक राग 'मेघ' है। मल्हार राग अत्यंत श्रुति मधुर होते हैं और गाये-बजाये जाते वक्त माहौल को न सिर्फ रसरंजक स्वर माधुरी से ही भर देते हैं, बल्कि गायक और श्रोता के मन में वर्षा के अहसास को लगातार जीवन्त और चैतन्य कर देते हैं। अत्यंत लोकप्रिय और प्रसिद्ध मल्हार रागों के अतिरिक्त जिन रागों के योग से बने मल्हार रागों की पहचान की गई है, उनकी संख्या लगभग 53 है। इनमें - शुद्ध मल्हार के दो प्रकार हैं जिनका गायन-वादन समय नाम के सामने दिया है। पहला रात्रि का दूसरा प्रहर और दूसरा रात्रि का तीसरा प्रहर।

'मल्हार' राग को मियाँ की मल्हार भी कहा जाता है। एक मत के अनुसार ईस्वी 1562 में बादशाह अकबर के दरबार के नवरत्नों में से एक अमर गायक तानसेन ने 'मियाँ की मल्हार' राग की रचना की। लेकिन कई संगीत विद्वान इससे सहमत नहीं हैं। ग्वालियर घराने के विख्यात संगीताचार्य स्व. पं. विनायकराव पटवर्धन के अनुसार मल्हार राग अतीत में गाने बजाने में प्रयुक्त होते आए हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन संगीत शास्त्रों में ''मल्लारि'' नाम से है। शुद्ध मल्हार के अतिरिक्त अन्य 'मल्हार' राग इस प्रकार है :- मेघ/मेघ मल्हार, सूर मल्हार या सूरदासी मल्हार, रामदासी मल्हार, देस-मल्हार, गौड़ मल्हार, नट मल्हार, जयंत मल्हार, धुन्डी की मल्हार या धूलिया मल्हार या धोंडू की मल्हार, चरजू की मल्हार, मीरा की मल्हार, नानक मल्हार, सारंग मल्हार, वृन्दावनी मल्हार, कान्हड़ा मल्हार, चंचल - शस - मल्हार, रूप मंजरी मल्हार, अरुण मल्हार, कामोद मल्हार, पुराणी या पौरानी मल्हार. मथुरादास की मल्हार, सत की मल्हार, हरदासी मल्हार, नौबत खानी मल्हार, विलासी मल्हार, मदन मंजरी मल्हार, सुरट या सोरठ मल्हार, सोहन मल्हार हाहा हूहू मल्हार, केदार मल्हार या सावनी केदार, दुर्गेश्वरी मल्हार, गौड़ गिरि मल्हार, आनंद या आनन्दी मल्हार,

मल्हार बहार, छाया मल्हार, मधुर मल्हार, मिश्र मेल की मल्हार, झुंज मल्हार, गांधी मल्हार, अड़ाना मल्हार, जाज मल्हार, सुघराई मल्हार, तैलंग मल्हार, नुपुर मल्हार, सामेरी मल्हार, मोहन मल्हारि, त्रिभुवन मल्हार, तिलक मल्हार, बिलावल मल्हार या गौड़ बिलावल, कोलू मल्हार, पट मल्हार, बसन्ती मल्हार, खमाजी मल्हार ये 53 विभिन्न मल्हार प्रकार उत्तर भारतीय या हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के विभिन्न घरानों में प्रचलित हैं। दक्षिण भारतीय कर्नाटक संगीत में पाए जाने वाले मल्हार रागों में कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं- 1. मलहारि, 2. शुद्ध मलहरि, 3. सामन्त मल्हार, 4. गौड़ मल्लारू, 5. रीति मल्लार, 6. मेघ राग, 7. करंक वराळी (मल्लार प्रकार)

मल्हार या मल्लार के अलावा हिन्दुस्तानी और कर्नाटक शास्त्रीय संगीत में कुछ ऐसे राग भी पाए जाते हैं, जिनसे आभास होता है कि ये राग भले ही मल्हार राग न कहे जाते हों, लेकिन कहीं न कहीं वर्षा ऋतु से सम्बंधित जरूर है। इन रागों के नाम हैं- ''मेघ रंजनी या मेघ रंजि, सावन, सावनी, सावनी कल्याण, मेघ श्यामल'' आदि। इसके अतिरिक्त भी मल्हार रागों से इतर शास्त्रीय संगीत के अन्य रागों में भी वर्षा ऋतु और उसके अंग-उपांगों पर केन्द्रित अनेक सुमधुर, ललित और संदर्यमयी बन्दिशें हैं, जो श्रोता और गायक दोनों को बारिश की तीव्रता का अहसास देती है, जैसे राग 'शंकरा' में - ''झूलना झुलाए आई पावन ऋतु सावन'' या भैरवी में ''सावन के झरने लगे हैं'' आदि।

मल्हार रागों के गायन और प्रकृति पर उसके असर को लेकर कई किवदंतियाँ लम्बे समय से लोक प्रचलित हैं जैसे अकबर के दरबार में अकबर के आग्रह पर तानसेन का राग ''दीपक'' गाना, जिसके कारण बुझे दियों का जल उठना और सारा वातावरण अत्यन्त उत्तप्त हो जाना... जिसमें तानसेन द्वारा स्वयं भी आग जैसी गर्मी महसूस करना। तानसेन की पुत्री सरस्वती (?) और उसकी सखी द्वारा मिलकर राग मेघ मल्हार गाना, जिसके फलस्वरूप वातावरण की गर्मी शांत होना और तानसेन द्वारा शीतलता महसूस करना। आधुनिक युग में रामपुर सहसवान घराने के उस्ताद स्व. मुश्ताक हुसैन खाँ द्वारा रामपुर के नवाब के आग्रह से अकाल ग्रस्त रामपुर रियासत में मियाँ की मल्हार गाकर खूब बारिश करवाई गई थी।

लगभग 50 साल पहले विदिशा के पं. गंगाप्रसाद पाठक द्वारा सागर में मल्हार राग गाकर घोर गर्मी में गड़गड़ाते बादलों की बारिश करवायी गई थी। तत्कालीन ग्वालियर रियासत में भी ''मल्हार गायन'' के कारण अचानक बारिश होने के उदाहरण पाए जाते हैं।

छाया : आभा भारती

स्याह अम्बर से कहरदार झड़ी लगती है
जिन्दगी मौत की बाँहों में पड़ी लगती है

आसपास का सारा वातावरण बहुत भीगा हुआ, शीतल... स्निग्ध... तरल... जहाँ तक नजर जाती है... पेड़ पौधे, घास, दूब, लताएँ, झुरमुट, खर-पतवार जैसे सारी हरितिमा बारिश में धुली नजर आती है, गोया श्रावण मास के शुक्ल पक्ष के तीसरे दिन... आज हरियाली तीज है, ...मधुश्रवा तीज। हरियाली तीज के स्वागत में सावन के बादलों ने समुची धरा को तरबतर कर नहला दिया है। शुजालपुर कस्बे के रेल्वे स्टेशन के प्लेटफार्म पर कदम क्या रक्खा कि, बड़ी-बड़ी बूंदों की तड़ातड़ झड़ी ने छाते की शरण लेने को मजबूर कर दिया...। लगातार जारी बारिश अब थोड़ी देर को थमी है। कई रंगों के पंछी चहकते-फुदकते पेड़ों की भीगी शाखों से चोंच और पंजों से भीगे परों का पानी झड़ा रहे हैं। इन्सान भी मौसम से कैसी कैसी उम्मीदें लगाए रहता है। ये उम्मीदें ही ज़िन्दगी को रसमय बनाए रहती है और संघर्षमय... और कलहमय भी और अशांत भी। बुद्ध ने कहा है- मानवीय इच्छा दुःख का कारण है।

ऐन सावन की हरी चीज के हरियल दिन पर,
दिल से निकले, तो जरा सी भी बड़ी लगती है

बारिश ने जमकर आक्रोश दिखाया है और खुले वातावरण में रखा सोयाबीन अनाज बिल्कुल तर कर दिया है। स्टेशन से शुजालपुर कस्बे की तरफ ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों हवा के झोंकों से, भीगी हुई सोयाबीन की असहनीय गन्ध चारों ओर से घेर लेती है और दम साधने को मजबूर कर देती है। मधुश्रवा तीज के ऐसे रसभीने माहौल में ही तो चारों ओर से मल्हारें गिरती हैं, हमारे दिलों पर उस माहौल पर, जहाँ हम होते हैं...।

भोपाल-इन्दौर रेलमार्ग पर भोपाल से लगभग 87 किलोमीटर दूर पश्चिम की तरफ शाजापुर जिले का तहसील मुख्यालय शुजालपुर कस्बा जो सोयाबीन, कपास, चना, गेहूँ, बहुतायत में उपजाता है। आस-पास के इलाकों के लिए शुजालपुर अनाज खरीद-फरोख्त की बड़ी मण्डी है। मालवा इलाके के ग्रामीण परिवेश वाला यह कस्बा शुजालपुर, जो फिलहाल शास्त्रीय संगीत के वातावरण से काफी दूर है। फिल्मी गानों, रेडियो, टी.वी. चैनलों पर बजते नगमों और रातों में लोक संगीत के गूँजते भजनीक माहौल में युवा पीढ़ी आज की गजलों की गायकी की आशना है। शुजालपुर कस्बे के लगनशील सक्रिय रसिकजनों की संस्था 'किशोर संस्कृति मंच ने' प्रकृति की आराधना में शास्त्रीय संगीत के 'मल्हार उत्सव' का आयोजन किया है। 'किशोर संस्कृति मंच' ने

पिछले साल 2011 की बसन्त ऋतु पर केन्द्रित शास्त्रीय बसन्ती रागों का गायन का आयोजन किया था। आज का मल्हार उत्सव सरस्वती विद्या मंदिर के हाल में है।

मल्हार गायन के लिए भोपाल से ग्वालियर घराने के वरिष्ठ गायक प्रो. (पं.) सज्जनलाल ब्रह्मभट्ट 'रसरंग' आमंत्रित हैं। दतिया की पखावज परम्परा के उत्तराधिकारी प्रो. सज्जनलाल ब्रह्मभट्ट ग्वालियर घराने की सर्वांग गायन परम्परा के प्रतिनिधि हैं और वे संगीतकार पूर्वजों की वर्तमान 7वीं पीढ़ी तक पुरानी पखावज परम्परा का परचम आज भी फहराए हुए हैं। मल्हार उत्सव की शुरुआत में वे रसिक श्रोताओं को बताते हैं कि मल्हार रागों के जितने भी प्रकार हैं, उनके मूल रूप में आपस में बहुत कम अन्तर है। लगभग सभी मल्हार प्रकारों में मध्यम और ऋषभ स्वर की मींड, गंधार का आन्दोलन और ऋषभ-पंचम स्वरों की क्रमिक संगति से उनका रंजक रूप निखरता है।

'रसरंग' गायन की शुरुआत मीराबाई रचित ऐतिहासिक ''मीरा की मल्हार'' की विलम्बित तीन ताल की खयाल रचना से करते हैं और राग बन्दिश ''पिया सों मैं कब कियो मान'' के विरह श्रृंगार का वातावरण सजने लगता है। उनकी प्रतिभाशाली शिष्या दीप्ति शैलेन्द्र ''ताऽ नाऽ रीऽ रीऽ में (अनंत हरिओम) की अंतर्निहित, ध्वनि से 'मीरा मल्हार' का आध्यात्मिक स्वर गुंजार करके महफिल का माहौल भक्तिमय करती जाती है। कोमल गंधार और 2 धैवत तथा 2 निषाद के इस राग में प्रस्तुत मध्य लय 3 ताल की बन्दिश में मल्हार और कानड़ा अंग का श्रुतिमधुर संयोग लगातार रस वर्षा कर रहा है।

अगली प्रस्तुति राग 'गौड़ मल्हार' की है। यह वर्षा ऋतु का बहुत शीरीन और शाइस्ता राग है। गौड़ मल्हार के दो मत हैं। एक मत के अनुसार यह खमाज ठाठ का राग है, तो दूसरे के अनुसार काफी ठाठ का। शुद्ध गंधार के प्रयोग से अन्य मल्हार राग, गौड़ मल्हार से अलग हो जाते हैं। इसे अंतिम मुगल बादशाह बहादुर शाह 'जफर' ''शोख रंग'' (संगीत का उपनाम) रचित 150 साल पुरानी बंदिश ''दादुरवा बुलाए बादरिया'' की अदायगी से पं. रसरंग गाते हैं। बंदिश मध्यलय 3 ताल में निबद्ध है। दक्षिण भारत के गौढ़ और उत्तरी भारत के मल्हार राग के मेल से बना गौड़ मल्हार टेढ़ी गति का राग है। इसमें 'रे ग म, ग म' और ग रे सा' की स्वर संगति और मध्यम और कोमल निषाद की स्वर संगति में गौड़ मल्हार की कई पंखुड़ियाँ खिलती जाती हैं। वादी मध्यम और संवादी षडज की गूंज वाले इस राग में द्रुत तीन ताल का तराना, बाहर तेज बारिश की तड़-तड़ बरसती बूंदों की लय से ताल मिलाता हुआ चल रहा है।

इस महफिल की तीसरी बारिश का राग 'मेघ मल्हार' है, जो काफी थाट का है और मध्यम ऋषभ स्वरों की लगातार बारिश किए जा रहा है। इसके साथ चलती है कोमल और शुद्ध निषाद, दोनों स्वरों की लगातार बारिश। ऋषभ की स्वर बूँद लगातार हिल हिलकर बरसी जा रही है। कभी दोनों निषादों की स्वर बूंदें षड्ज की देहलीज तक जाती हैं, तो कभी कोमल निषाद, षड्ज स्वर तक का बूंद-बूंद सफर कर रहा होता है। अभी गांधार और धैवत खामोश बैठे हैं जो वादी मध्यम और संवादी ऋषभ के लगातार बारिश में डूबने-उतराने का खेल चुपचाप देख रहे हैं। पं. रसरंग की पहली ही बन्दिश (मेघ-मल्हार की) धीर-गंभीर भरावदार आवाज में विलम्बित एक ताल में बाहर जमकर हो रही बारिश का स्वागत कर रही है- ''बरखा ऋतु आई...''.... और इसी रस सिक्तता में लगे-लगे झपताल में झूमती सदारंग की पारम्परिक बंदिश गूंजती है ''गरजे घटा घोर... पावस ऋतु आई, दुल्हन मनभायी.... रैन अंधेरी- बिजुरी डरावे, ...सदारंगीले महमदशा पिया, र ना आवै'' नई दुल्हन को बारिश का मौसम पसन्द तो बहुत है, लेकिन दूल्हे मियाँ यानि प्रियतम ही घर पर नहीं है, तो सब फुजूल। मेघ मल्हार के संयोग और वियोग श्रृंगार का घनीभूत रस इस बन्दिश में है।

अब उस राग की आमद है, जिसके नाम ही से वर्षा ऋतु का एहसास होने लगता है, यानि चाहे जिस मौसम में राग 'मल्हार' का नाम लिया जाए। यह विवादित है कि इसका आविष्कार तानसेन ने किया? क्योंकि चलन इसे 'मियाँ की मल्हार' नाम से जानने का है। लेकिन यह भी प्रमाणित है कि, प्राचीनकाल से ग्रंथों में राग ''मल्लारि'' का जिक्र बराबर मिलता है। काफी ठाठ का यह राग कोमल और शुद्ध यानि दोनों निषाद के प्रयोग को अतिरंजना के शिखर तक ले आता है। अत्यंत गंभीर प्रकृति के इस शाइस्ता राग को बकौल आचार्य बृहस्पति, 'रामपुर और ग्वालियर के गायकों ने बहुत अच्छा गाया है तो आज ग्वालियर घराने के ही गायक पं. रसरंग से इसे सुनने का सुखद संयोग है। उनकी कोमल निषाद और मध्य की मधुर स्वर संगती 3 ताल में पारंपरिक मध्यलय का खयाल ''बोल रे पपैया'' में छलक रही है, जिसे सदारंग ने बतौर ध्रुपद लिखा था, लेकिन सौंदर्यमयी कशिश के कारण वह खयाल की शक्ल में गाया गया। इधर सहगायिका दीप्ति शैलेन्द्र के सुमधुर आलाप के बाद पं. रसरंग की 'मल्हार राग की तानों की अनवरत झड़ी, वर्षा की बूंदों की झड़ी से कदम-दर-कदम... ताल-दर-ताल मिलाकर चल रही है। इसके आगे, एक ताल में निबद्ध मियाँ की मल्हार का तराना महफिल में सुरों की बारिश किए जा रहा है, जिसे ग्वालियर के वरिष्ठ तबलाकार मुन्नालाल भट्ट की चाँटी की टंकार श्रोताओं की तालियों की बौछार में बदल देती है। अगले सोपान पर थिरक रही है 'राग ''धूण्डिया मल्हार'' या नायक ''धोन्डू की मल्हार''। नायक धोण्डू (धूण्डीराज) शाहजहाँ के दरबारी गायक थे। अतः

''गरजे घटा घोर... पावस ऋतु आई, दुल्हन मनभायी.... रैन अंधेरी- बिजुरी डरावे, ...सदारंगीले महमदशा पिया, र ना आवै'' नई दुल्हन को बारिश का मौसम पसन्द तो बहुत है, लेकिन दूल्हे मियाँ यानि प्रियतम ही घर पर नहीं है, तो सब फुजूल। मेघ मल्हार के संयोग और वियोग श्रृंगार का घनीभूत रस इस बन्दिश में है।

मल्हार की रागिनी : पं. सज्जनलाल ब्रह्मभट्ट

थमी हुई बारिश के पसमंजर ठण्डी हवा के झोंके जैसा राग 'धोण्डू की मल्हार' अभी भी कम ही सुनाई पड़ता है।

पं. रसरंग संक्षिप्त नोम तोम से ''धोण्डू की मल्हार'' शुरू करते हैं और उसे 'मनरंग' की पारंपरिक की सुघड़ा बंदिश ''बादल गरजे बोले मोर... ''मनरंग पिया तोरे पैंया परूँगी, फिर आऊंगी भोर'' ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ में पारंपरिक रस परिपाक करते हैं, और वादी पंचम और संवादी षड़द की अन्तर्क्रिया को कोमल गान्धार और दोनों निषादों से रंजित करके स्वरों की रसलीन वर्षा करते हैं। सुधि श्रोता 'धोण्डू की मल्हार' के कुछ स्वरों में राग 'सूर-मल्हार' और कुछ में राग 'नारायणी' की मंद-मंद छिपा मुस्कान भी भाँप रहे हैं।

छठवें सोपान पर जिस मल्हार की बौछार हो रही है, उस का नाम 'जयन्त मल्हार' है, यानि आरोह राग 'जय जयवन्ती' का और अवरोह 'मल्हार' का। आरोह के इस 5-7 स्वरों वाले (औड़व सम्पूर्ण) राग का वादी-पंचम जब गाता है, तो संवादी षड्ज, उसकी बात का जवाब गानों में ही देता है। देखिए कि, 'जयंत मल्हार' में बार-बार पंचम, कोमल गान्धार, मध्यम, ऋषभ, षड़ज, निषाद, षड्ज, कोमल धैवत, कोमल निषाद और ऋषभ, स्वरों की बड़ी-बड़ी बूंदें लगातार स्वर कैसे बरसा रही हैं....? हाल के बाहर आसमान पर छाए बादलों से कड़कड़ा कर गिरती बिजली के साथ-साथ....।

''ऋतु आई सावन की ऽ ऽ ऽ ऽ'' में 'जयन्त मल्हार'' के भीने-भीने स्वरों की खुशबूदार लेकिन तेजतर यह बारिश लगातार छः मल्हार रागों में सराबोर मल्हार उत्सव-2012 की अन्तिम पायदान राग भैरवी के निर्गुणी भजन में सुकून पाती हैं, ''सतगुरु हो महाराज, मोपे साँई रंग डारा, सबद की चोट लगी मन मोरे बंध गया तन सारा''

पं. सज्जनलाल ब्रह्मभट्ट 'रसरंग' और उनके संगतकारों को किशोर संस्कृति मंच के संयोजक और शुजालपुर रेल्वे के प्रमुख अधिकारी राममोहन तिवारी और कई रसिक श्रोतागण बधाई दे रहे हैं कि, वरिष्ठ तबला वादक मुन्नालाल भट्ट (ग्वालियर) ने मल्हार रागों के जटिल अवतरण में जरा भी राहत की साँस नहीं ली और उनकी तबला टंकार लगातार ढाई घण्टे निरन्तर गूँजती रही और यह भी कि पं. रसरंग के साथ सहगायन में शिष्या दीप्ति शैलेन्द्र के कोकिल कण्ठ ने 6 मल्हारों से सुरों की धारावार बारिश करवायी और सलीके का तानपुरा बराबर छेड़ा.... ''तानपूरे का तार छिड़ता है/साज से गज का तार भिड़ता है/ गूँजता है जमीं पे अनहद नाद/रूह से सुर कहीं तो जुड़ता है।''

बादल को टेरता मौसम

विनोद भारद्वाज

अनादि काल से बरसात कविता, गीत और नृत्य-संगीत के तमाम रूपों, शैलियों, भाषाओं और बोलियों में सशक्त उपमा विधान बनती रही है। गर्मी की तपिश झेलने वाला कोई भी व्यक्ति बारिश की फुहारों को उत्सव की तरह नहीं लेगा तो क्या करेगा। वर्षा ठेठ भारतीय ऋतु है, जिस पर लोक भाषाओं से लेकर मेघदूत सरीखा महाकाव्य लिखा गया है, विरह के लोकगीतों से लेकर घाघ और भड्डरी की कहावतों तक इसकी इतनी छवियां वर्णित हुई हैं कि वह हमारे जीवन की सबसे महत्वपूर्ण रससिक्त ऋतु बन गई हैं।

यह अनायास ही नहीं है कि पावस ऋतु ग्रीष्म, शरद, हेमंत, शिशिर और यहां तक कि ऋतुराज वसंत से भी बड़ी हो जाती है। 'धान उगेंगे कि प्राण उगेंगे/उगेंगे हमारे खेत में/आना जी बादल जरूर।' केदारनाथ सिंह की कविता में गहरी लोक संवेदना और मासूम उत्साह के साथ बादल को बुलाता यह स्वर हमारे किसान की आत्मा का स्वर भी है और जीवन के जरूरी तत्व जल को आमंत्रित करती पुकारभी है। यह सच भी है कि छह ऋतुओं में यदि वर्षा न हो तो बाकी की ऋतुएं महत्वहीन हो जाएंगी। इसके बिना उनका सारा सौंदर्य जाता रहेगा। वर्ष ही अपने जल से धरती की प्यास बुझाकर इसे उर्वर बनाती है। बदले में धरती हमें धन-धान्य से परिपूर्ण कर वैभवशाली बनाती है। वर्षाकाल से ही हमारा ऋतु चक्र पूर्ण होता है। इस मौसम में गर्मी और धूल बैठ जाती है और पूरी प्रकृति मानो हरी चादर ओढ़ लेती है। अचानक हवा में मिट्टी की सौंधी गंध तैरने लगती है और प्रखर सूर्य काले-भूरे बादलों से ढक जाता है।

पावस के स्वागत में हवा की चाल बदलती है, आकाश का रंग बदलता है और कम होने लगता है गर्म पछुआ का ताप। गर्मी की निराशा से मन उबरने लगता है। मौसम की पहली बारिश यानी दौंग... सब जानते हैं कि यह रात को ही बरसेगा और खुली छतों पर सोने वालों को अपने आगमन से अचानक उठा देगा। रात की उस पहली बारिश की सुबह का आलस्य तक इतनी ताजगी से भरा होता है, जैसे पूरी प्रकृति पर एक उन्माद सा छा गया हो। एक ऐसी गंध नथुनों में भर जाती है, जिससे मानो रात की पुरवैया में झकझोरे गए पेड़ों की हरियाली महक और भीगी-भीगी मिट्टी की कोख से निकली सौंधी सी खुशबू को बिलो दिया गया हो। एक ऐसा जादू जिसमें

> बरसात हमारे यहां परंपरा की वह कड़ी है, जहां प्रकृति व मनुष्य की भावनाओं के अंकुर जन्म लेते हैं, बस जरूरत है बूंदों के इस उत्सव को मनाने और सहेज कर रखने की।

लू के गर्म थपेड़ों की याद तक तिरोहित हो जाए, एक ऐसा उत्सव, जिसमें मोर के पांवों में भी थिरकन आ जाए, आम और जामुन के पेड़ों पर पक्षियों का कोलाहल मेले का दृय बना दे और जिसमें नदियों के कछार कांस के फूलों से भर जाएं।

ध्यान से देखें तो बरखा की यह पहली बूंदें ही तो हैं, जिनका लहरा धरती और मन की धूल बुहार कर रख देता है। दौंगरे के बाद आने वाली बारिश की झड़ी के कारण ही कई-कई दिनों तक सूर्य के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं. लेकिन यह भी सच है कि झड़ी की बारिश अब काफी कम हो रही है, तभी तो सहसा मलिका अमर शेख की कविता याद आ जाती है, 'आजकल आषाढ़ के बादल/चले जाते हैं चुपचाप/बगैर पैरों की आहट किए/वे भी समझ चुके हैं/कि अच्छा नहीं होता/केवल बरसते रहना ज़िंदगीभर'। सच भी है, जब बूंदों के उत्स में भीगने का मन न करे और बच्चों के उल्लास पर भी पहरे बिठा दिए जाएं तो आषाढ़ की झड़ी क्यों कर न रूठे? क्या आपको ऐसा नहीं लगता!

पावस की पूर्णता का चरम रस बिन्दु है 'झींसी।' कहीं-कहीं इसे फुहार भी कहते हैं। झींसी की इन्हीं बरसती नन्हीं-नन्हीं बूंदों का इंतजार रहता है अमराइयों में पड़ने वाले झूलों को। यूं तो इन झूलों पर लड़कियों के तन झूलते हैं पर उड़ान लेते हैं- मन के सपने।

इस बरसते मौसम के प्रति हमारी संवेदना अकारण नहीं है, आखिर साल-दर-साल धरती की प्यास बुझाने का साधन यही तो है और इसी से चलता है पशु-पक्षी, प्रकृति और मनुष्य के जीवन का स्पंदन!

बारिश की पहली फुहार पड़ते ही संगीत का मिज़ाज़ भी बदलने लगता है। उमड़ती घटाओं की हलचल संगीतज्ञों व संगीत रसिकों को भी अपने रंग में रंगने लगती है। सावन की तीज से ही शुरू हो जाती है कजरी, कजली और मल्हार की तानें।

मध्यकाल के एक ग्रंथ में स्पष्ट उल्लेख है कि वसंत ऋतु में राग हिंडोल, ग्रीष्म में राग दीपक, पावस में मेघ, शरद में श्री, हेमंत में मालकौंस और शिशिर ऋतु में राग भैरव गाया जाना चाहिए। दरअसल रागों का जैसा खजाना पावस ऋतु में आता है, वैसा और किसी मौसम में नहीं आता, जैसे मेघ मल्हार, रामदासी मल्हार, नट मल्हार, जयत मल्हार और छाया मल्हार के अलावा धूलिया व मियां की मल्हार। इसके अलावा राग देस व जय जयवंती भी इस ऋतु में खूब गाए जाते हैं। गमक प्रधान होने के कारण हमारे शास्त्रीय संगीत में वर्षा को चित्रित करने की अपार क्षमता के कारण ही सुनने वाला तन से न सही, लेकिन मन से भींग ही जाता है। सच तो यह है कि यह ऋतु सदियों से संगीतकारों, कलाकारों, कवियों व नृत्यकारों की प्रेरणा स्रोत रही है।

कालिदास के मेघदूत में प्रेम, प्रकृति और भावना मेघों के कंधे पर सफर करते दिखाई देते हैं वह अविस्मरणीय हैं। यदि मानें तो बरसात हमारे यहां परंपरा की वह कड़ी है, जहां प्रकृति व मनुष्य की भावनाओं के अंकुर जन्म लेते हैं, बस जरूरत है बूंदों के इस उत्सव को मनाने और सहेज कर रखने की।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय
के नवागत निदेशक
वामन केन्द्रे

नए प्रस्थान की आहट

संगम पाण्डे

आखिर एक लंबे इंतज़ार के बाद तीन अंतिम उम्मीदवारों में से वामन केंद्रे को राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का नया निदेशक चुन लिया गया। 27 साल पहले 1984 में वामन इसी विद्यालय से होकर निकले थे। पास होते ही उनके सामने दो ऑफर आए। पहला, एक थिएटर ग्रुप के साथ विदेश जाने का और दूसरा केरल की लोकनाट्य शैलियों पर एक वर्कशॉप के आयोजन का उन्होंने दूसरे ऑफर का चुनाव किया। मुंशी प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी ईदगाह के नायक हामिद की तरह उन्हें पता था कि विदेश यात्रा तो शीशे के टूट जाने वाले खिलौने की तरह है, लेकिन अपनी धरती की कलाओं में हासिल की गई निपुणता का चिमटा हमेशा उनके काम आएगा। नतीजा सामने है। आज उन्हें देश में नाट्य प्रशिक्षण की शीर्ष संस्था के शीर्ष पद की ज़िम्मेदारी सौंपी गई है।

विदर्भ के एक दूरस्थ गाँव के साधारण परिवार में पैदा हुए वामन केंद्रे ब.व. कारंत के बाद उन गिने-चुने रंगकर्मियों में हैं, जिन्होंने अपनी एक पुख्ता द्विभाषी पहचान बनाई है। मराठी में 'झुलवा' और 'रणांगन' जैसी उनकी सुपरहिट नाट्य प्रस्तुतियों के समांतर हिन्दी में गधे की बारात और करीब एक दशक पहले की प्रस्तुति 'जानेमन' तक उनकी निर्देशित प्रस्तुतियों का एक लंबा सिलसिला है, अभी डेढ़ महीने पहले मंचित उनकी बिल्कुल ताज़ा प्रस्तुति नो सेक्स प्लीज़ एक हिन्दी प्रहसन ही है। भास के संस्कृत नाटक मध्यमव्यायोग पर आधारित उनकी प्रस्तुति 'पिया बावरी' तो एक दिन में एक साथ तीन भाषाओं- हिन्दी, अंग्रेजी और मराठी- में मंचित होने का कीर्तिमान बना चुकी है।

पचपन वर्षीय वामन के नाट्य कर्म की विशेषता है उसका अनुशासन और उसकी संपूर्णता, कहना चाहिए कि उनका नाट्य चाक्षुष ध्वनियों में आकार लेता है। उनकी नाट्य प्रस्तुतियां मंच के एक साफ-सुथरे व्याकरण से बनती हैं, किन्नरों के जीवन पर आधारित नाटक जानेमन में वे इस अनजानी दुनिया के संवेदनशील पहलुओं को इस शिद्दत से उकेरते हैं कि देखने वाला इस उपेक्षित समुदाय के लोगों के भीषण यथार्थ को मानवीय ढंग से महसूस कर पाता है। प्रस्तुति के दौरान दृश्यों के बीच के अंतराल में भी झींगुरों की ध्वनि सुनाई देती रहती है। ऐसी बहुतेरी युक्तियों और अवयवों का कल्पनाशील इस्तेमाल करने वाले वामन के कुल रंगकर्म में भी यह विविधता दिखाई देती है। वे अपनी प्रस्तुतियों में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के सूत्रों से लेकर आधुनिक थिएटर की तरकीबों तक का इस्तेमाल करते रहे हैं. मसलन, पिया बावरी में नाट्यशास्त्र महज सांकेतिक रूप में ही दिखता है। उनके मुताबिक, इसमें संस्कृत सौंदर्यशास्त्र की महज गंध भर है और उन्होंने परंपरा, संरचना, भंगिमाओं, लय आदि के मूल रूप को एक बिल्कुल नए तरह से इस प्रस्तुति में बरता है, ऐसा करने की वजह है- उन्होंने भास की नायिका हिडिम्बा को अपने रूपांतरित नाट्यालेख में एक बिल्कुल अलग विचार बिंदु से पेश किया वह प्रेम की राजनीति, परिवार और संबंधों को एक आधुनिक स्त्री के नजरिए से देख पाती है वामन के रंगकर्म की विविधता के इसी क्रम में देवदासियों के जीवन पर उनकी प्रस्तुति 'झुलवा' और ग्रीक क्लासिक 'इडिपस' आदि को भी याद किया जा सकता है।

नाटक 'जानेमन' से हिन्दी में पुनर्वापसी रकने वाले वामन पहले रंगकर्मी हैं जिन्हें राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का मनोहर सिंह सम्मान दिया गया। उनकी उपलब्धियों के सिलसिले में उन्हें इसी साल दिया गया वर्ष 2012 का संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार भी जुड़ गया है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में आने तक वे मुंबई विश्वविद्यालय के थिएटर डिपार्टमेंट के मुखिया के रूप में कार्य करते रहे हैं, जिसके वे संस्थापक भी हैं। अपनी कुशलता से उन्होंने आज इसे देश के चुनिंदा नाट्य पाठ्यक्रमों में ला खड़ा किया है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में अगर वामन के आगमन को भविष्य की ओर एक नए प्रस्थान की तरह देखा जा सकता है तो इसकी कुछ वजहें हैं, एक वजह यह है कि रामगोपाल बजाज के निर्देशकत्व के बाद से विद्यालय अपनी दशा और दिशा में निरंतर ह्रासोन्मुख और भ्रम का शिकार होता गया है और वामन थिएटर के एक ऐसे विजनरी हैं, जिनमें खुद से इतर शैलियों के महत्व को पहचानने की एक स्पष्ट दृष्टि रही है। वे समकालीन थिएटर के राष्ट्रीय परिदृश्य में न सिर्फ नियमित चहलकदमी करते रहे हैं, बल्कि उनके पास एक समुचित राष्ट्रीय दृष्टि भी है, जो जानती है कि इस राष्ट्र की शुरुआत वास्तव में गांव से होती है।

(इंडिया टुडे से साभार)

नाट्यकला के नवरंग

भोपाल में 'रंग आधार' नाट्य संस्था पिछले तेरह वर्षों से पूरी विश्व रंगमंच दिवस के निमित्त एक व्यापक नाट्य समारोह आयोजित करती आ रही है। इस रंग अनुष्ठान में कुछ वर्षों से **'वनमाली सृजन पीठ'** जैसी प्रतिष्ठित और बहुआयामी संस्था के जुड़ने से समारोह का स्वरूप और भी निखर आया है।

विवेक सावरीकर 'मृदुल'

इस साल 14वाँ समारोह अंतरंग, भारत भवन में 28 मार्च से 6 अप्रैल के बीच सम्पन्न हुआ और इस दौरान वरिष्ठ और युवा रंग-निर्देशकों की कुल नौ ऊर्जस्वी प्रस्तुतियों का आस्वाद दर्शकों ने लिया। 31 मार्च को रंगपंचमी को स्थानीय अवकाश की घोषणा से आयोजक संस्था के सूत्रधार और वरिष्ठ रंगकर्मी राकेश सेठी को अपनी ही महत्वपूर्ण प्रस्तुति 'संध्या छाया' को निरस्त कर मेहमान संस्था विवेचना, जबलपुर को स्थान देना पड़ा। लिहाजा 'संध्या छाया' देखने का मन बनाए अनेक कला प्रेमी कुछ मायूस दिखे, पर सभी ने इन नौ प्रस्तुतियों के कथा-कलेवर, रूप-विन्यास और निर्देशकीय शिल्प के अनूठेपन को मुक्त कंठ से सराहा। इन नाट्य प्रस्तुतियों ने हर शाम अंतरंग के प्रयोगधर्मी मंच पर कहीं चटखीले, तो कहीं मटमैले-धूसर रंगों से संवेदनाओं की देह सजाई। हर शाम नए दर्शकों की खासी मौजूदगी ने भी कलाकारों का उत्साह बढ़ाया। विशेषकर नया थिएटर की प्रस्तुति 'गाँव नाम ससुराल, मोर नाम दामाद' में तो सभागार में पाँव धरने की भी जगह नहीं बची थी।

समारोह की पहली शाम धरोहर ग्रुप की प्रस्तुति 'बॉबी ब्रेकर' एक तरह से सामाजिक जागरण का शंखनाद करती दिखी, जिसमें 'हकलाने' की समस्या से ग्रस्त 'बॉबी' नामक युवक के जरिए इस समस्या के जड़ में छुपे कारणों की रोचक अंदाज में खोज की गई और मनोरंजक ढंग से इस ग्रंथी से उबरने का संदेश दिया गया। युवा रंग-निर्देशिका गीता अग्रवाल शर्मा ने सूत्रधार-कथन और छोटे-छोटे दृश्य-बंधों की चुस्त जमावट से नाटक की थीम को भटकाव से बचाया। ये नाटक सुधीर कपड़ी के मूल मराठी नाटक 'बोल बाबी बोल' से रूपांतरित था परन्तु मूल मराठी नाटक में जहाँ 'बॉबी' को कुछ भी हाथ नहीं लगता, 'बॉबी ब्रेकर' में नायक को अपनी संस्था के यूनियन की लीडरशिप और उदारमना प्रेमिका दोनों ही मिल जाती हैं। प्रस्तुति में कलाकारों का अभिनय यद्यपि 'कॉलेजियट' पुट लिए प्रस्तुति में कलाकारों का अभिनय यद्यपि 'कॉलेजियट' पुट लिए था, पर दर्शकों ने उनकी सहजता और कथा के 'इनबिल्ट' 'सैंस ऑफ ह्यूमर' को खूब एंजॉय किया। इसी शाम भोपाल के चार वरिष्ठ रंग-साधनों को 'रंग आधार सम्मान' से भी नवाजा गया। ये थे- इरफान सौरभ (श्रेष्ठ अभिनय-निर्देशन), प्रीति झा तिवारी (श्रेष्ठ अभिनय/निर्देशन), ज्योति सावरीकर (श्रेष्ठ हिन्दी/मराठी अभिनेत्री) व मोरिस लाजरस (श्रेष्ठ रंग संगीत/अभिनय/रंगकर्म)। ये सम्मान भारतीय स्टैट बैंक के मुख्य महाप्रबंधक अविनाश खरे व श्रीमती अनिता खरे ने इन कलाकारों को प्रदान किए। वरिष्ठ साहित्यकार एवं वनमाली सृजनपीठ के प्रमुख संतोष चौबे भी इस अवसर पर उपस्थित थे।

दूसरी शाम भोपाल के रंगकर्मियों के लिए खास थी। कारण इस शाम भोपाल रंगमंच से जुड़े रहे व अब राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्रखर स्नातकों में एक टीकम जोशी के एकल अभिनय की झलक मिलती थी। नाटक था- 'शायर...शटर डाउन'' और इसका निर्देशन किया था भारतीय रंगमंच की महत्वपूर्ण हस्ताक्षर त्रिपुरारी शर्मा ने। कृति भी उन्हीं की लिखी थी। पूरी प्रस्तुति महानगरीय जिंदगी में 'अकेले रहने' की त्रासदी को रूपायित करती है। टीकम के अभिनय में जो लोच और संवाद अदायगी की शैली से दर्शकों तक अपना 'पॉइंट ऑफ व्यू' पहुँचाने की खासियत है, उसने शुरू से अंत तक बांधे रखा। तथापि कथा की 'एब्सर्डिटी' और बैलून-कुर्सी आदि मंच प्रॉपर्टी के 'गिमिक्स' अनेक सुधिजनों को रास नहीं आए। राजेश सिंह की मंच कल्पना तो नयनाभिराम थी, पर इस भव्य सैट का और 'मल्टीमीडिया' के उपकरणों का, प्रस्तुति को रंजक बनाने में सहयोग नहीं मिला,

यह राय भी कई रसिकों ने दी। प्रकाश परिकल्पना सोउती चक्रोबोर्ती की थी और वीडियो प्रोजेक्शन अभीश का। 30 मार्च की शाम 'कारवाँ, भोपाल' की वरिष्ठ रंगकर्मी नज़ीर कुरैशी के निर्देशन से सजी प्रस्तुति 'अग्नि बरखा' अलबत्ता बेहद संभावनाशील कृति रही। गिरीश कर्नाड लिखित यह नाटक महाभारत काल की एक लघु आख्यायिका 'यवक्री प्रसंग' का नाट्य विस्तार है, जिसके जरिए नाटककार प्रेम-घृणा, पाप-पुण्य, भौतिक सुख और मोक्ष जैसे विराट शब्दों की पुनर्व्याख्या देता है। कर्नाड पौराणिक संदर्भों को आधुनिक जीवन दृष्टि के साथ इस खूबी से रचते हैं कि नाटक सम-सामयिक हो उठता है। फिर चाहे वह 'नाग मंडल' हो 'हयवदन' हो या फिर 'अग्नि बरखा'।

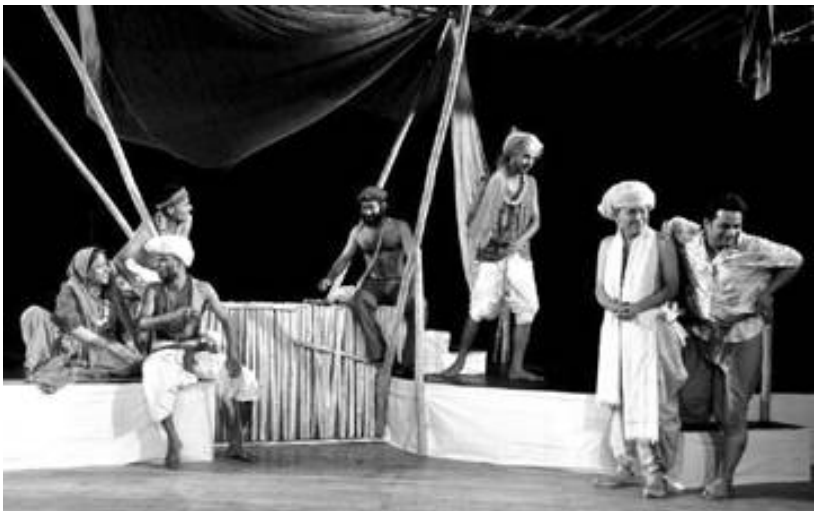

नाटक में जंगल की गहनता का बोध कराने के लिए लंबे हरे पैनलों यज्ञ वेदिका और पर्णकुटियों की सुंदर रचना की गई थी। नज़ीर कुरैशी का निर्देशन, बसीम का वस्त्र विन्यास, नरेन्द्र राजपूत का मेकअप और पुनीत वर्मा का संगीत कथा प्रवाह को और भी अनुकूल बनाता था। गीत विवेक मृदुल के थे। कलाकारों में सर्वाधिक प्रभावित किया उबेदउल्लाह खान (यवक्री), ज्योति सावरीकर (विशाखा) और प्रदीप नेमा (रैभ्य) ने। खासकर रैभ्य का मंत्र शक्ति से ब्रह्म राक्षस का आव्हान करने, विशाखा के यवक्री के साथ रतिक्रिया में लीन होने की स्वीकारोक्ति करने और मंत्रपूरित जल का कलश गिराने वाले दृश्य दर्शकों की अपार दाद दिला गए। परावस्तु के किरदार में प्रेम सावलानी बेहद सहज लगे। अलबत्ता गुणी कलाकार दिनेश नायर को अरवसु की भूमिका में अल्हड़पन और मासूमियत को लाने के लिए कुछ और समय देना होगा। नित्तिलाई की भूमिका कर रही नवोदिता ज्योति दुबे को भी प्रोजेक्शन और चंचलता लाने की दरकार दिखी। ब्रह्मराक्षस (मनोज भामा) और इंद्र (सैफू खान) की एंट्री प्रकाश परिकल्पना में उनके लिए प्रावधान न होने से फीकी मालूम हुई। अन्हरा बाबा का किरदार वसीम खान ने पूरे दम-खम से निभाया तो नित्तिलाई के भाई के गेटअप में परवेज खान ने भी अच्छा काम किया। कुल मिलाकर छोटी-मोटी त्रुटियों के बावजूद नाटक अपने में अपार संभावनाएँ समेटे लगा।

चौथी शाम एक अप्रैल को 'रंगशीर्ष' की प्रस्तुति 'भारत भारती' वरिष्ठ रंगकर्मी संजय मेहता के निर्देशन से सजी एक बढ़िया कृति थी। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की अनुपम काव्य रचना 'भारत भारती' पर आधारित इस प्रस्तुति में भारतवर्ष की प्राचीन भव्यता की गौरवगाथा के साथ वर्तमान समय में देश में आ रही विकृतियों विसंगतियों का वर्णन था। अभिनेताओं ने इस काव्य को कहीं कोरस गान तो कहीं संवाद अदायगी के माध्यम से प्रस्तुत किया। कलाकारों में योगेश परिहार, प्रदीप अहिरवार, मौ. फैजान, हेमलता आदि अनेक युवा व सुपरिचित नाम थे, जिनमें योगेश का अभिनय व गायन खासकर सराहा गया। अनूप जोशी (बंटी) की मंच सज्जा सादगी भरी थी और मो. रहीमुद्दीन तथा निर्देशक संजय मेहता का रंग-संगीत, काफी मधुर था। फिर भी यह लगा कि 'भारत भारती' की यही नाट्य प्रस्तुति इस पारंपरिक नाट्य समारोह के स्थान पर यदि किसी साहित्यिक आयोजन में होती तो उसे कला रसिकों की अधिक प्रशंसा मिलती। कारण प्रयोगधर्मिता की अपेक्षा जितनी निर्देशक, पर होती है, उसे समझने की जिम्मेदारी उतनी ही उसके दर्शकों पर भी रहती है।

दो अप्रैल की शाम 'रंग विदूषक' की प्रस्तुति 'वरुण के बेटे' देखना काफी सुखद अनुभव रहा। बाबा नागार्जुन के इस प्रसिद्ध उपन्यास का रूपांतरण और निर्देशन किया था सुपरिचित रंगकर्मी के आसिफ ने। प्रख्यात रंगकर्मी बंसी कौल के मंच आकल्पन, कमल जैन की उत्कृष्ट प्रकाश योजना और अभिनेताओं के सधे हुए अभिनय ने मिथिलांचल के परिवेश को सजीव बना दिया। नाटक में वामपंथी स्वर है और 'भूमि उसकी, जो हल चलाए' का सिद्धांत समझाते हुए नाटक ग्रामीण अंचल के लोकजीवन की आजीविका की समस्या का पूरी शिद्दत से चित्रण करता है। कलाकारों में हर्ष दौंड, वसीम खान, नीति श्रीवास्तव, सुशील कांत मिश्रा, अमित रिछारिया आदि ने कमाल का चरित्र निर्वाह किया। वरिष्ठ अभिनेता उदय शहाणे ने सूत्रधार के किरदार को पूरी गरिमा के साथ प्रस्तुत किया। पर उनकी वेशभूषा पर इस लिहाज से पुनर्विचार जरूरी है कि इस प्रस्तुति में उनका पहनावा संस्कृत नाटकों के सूत्रधारों की तरह होने से नाटक के बाकी के जन-परिवेश से काफी अलग दिखता था। कसा हुआ निर्देशन, प्रभावी दृश्य-बंधा और अंजना पुरी - विनोद राय का पारंपरिक लोक संगीत प्रस्तुति के धनात्मक पहलू रहे। बंसी कौल अपने नाट्य समूह में जिस तरह समूह के अन्य प्रतिभावान कलाकारों को निर्देशन का अवसर दे रहे हैं, ऐसा अन्य नाट्य दल भी करें तो शायद नाट्य कला की विरासत ज्यादा प्रभावी ढंग से आगे बढ़ेगी। हालांकि यह निर्देशक की अपनी सोच पर निर्भर करता है।

रंग आधार नाट्य समारोह की सर्वाधिक प्रयोगधर्मी प्रस्तुति 'बॉक्स' रही, जिसका मंचन 'शैडो ग्रुप' के बैनर तले ३ अप्रैल की शाम हुआ। निर्देशक थे मनोज नायर।

'बॉक्स' मनुष्य की उम्र के बढ़ने के साथ 'काम्पलैक्स' होती जाती शख्सियत की रोचक बानगी है। 'माइम', बैले और पारंपरिक प्रोसेनियम नाटक की बारीकियों में निपुण मनोज ने अपनी लिखी इस नाट्य कृति में बताया है कि कैसे हम कामयाब लोगों की देखादेखी

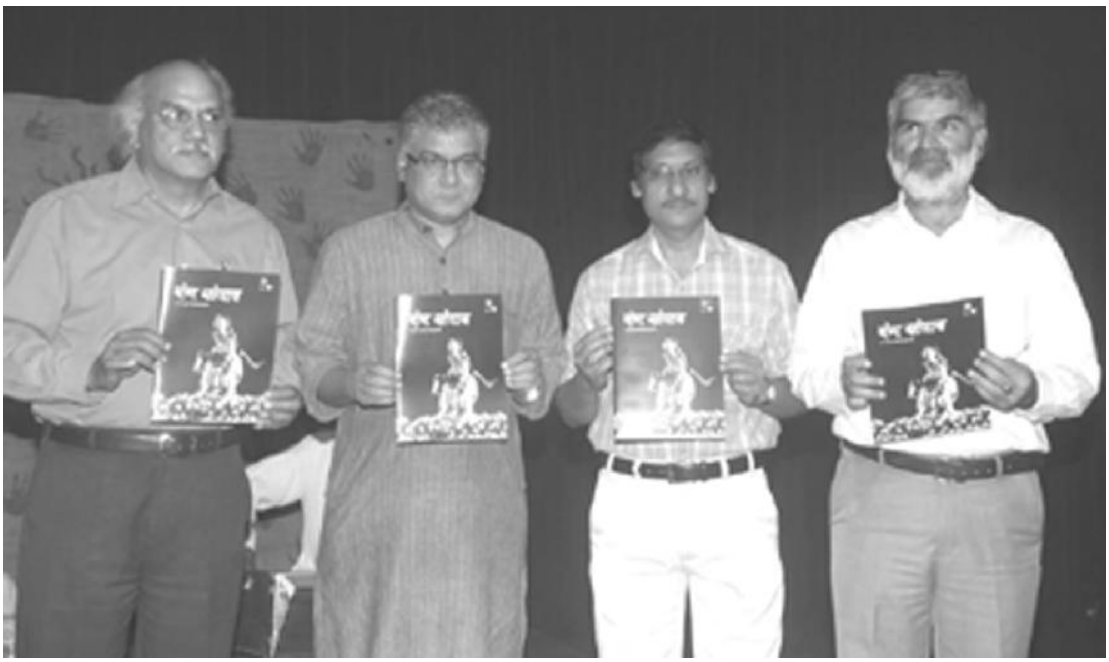

लोकार्पण
●●●
रंग संवाद

भारत भवन में सम्पन्न चौदहवें रंग आधार नाट्य समारोह में वनमाली सृजनपीठ की पत्रिका 'रंग संवाद' के नये अंक का लोकार्पण करते हुए म.प्र. राज्य नाट्य विद्यालय के निदेशक तथा रंगकर्मी संजय उपाध्याय। साथ में पत्रिका के प्रधान संपादक संतोष चौबे, संपादक विनय उपाध्याय और समारोह के संयोजक राकेश सेठी।

एक नकली आभामंडल का निर्माण कर लेते हैं और कैसे छोटे या बड़े दायरे (बॉक्स) में खुद को बांध लेते हैं। शैडो ग्रुप के कलाकारों - अर्चना कुमार, प्रमिला सिंह, आकांक्षा वर्मा, नितिश दुबे, मिथुन धूरिया, आलोक तायडे, स्मिता नायर और उज्जवल सिन्हा की इस बात के लिए खास तारीफ करनी होगी कि निर्देशक की कल्पना को अपने आंगिक, वाचिक और सात्विक अभिनय से साकार करने में इन सबने कोई कसर नहीं रखी। पर अभी 'बॉक्स' को कुछ और 'चर्निंग' (मंथन) की जरूरत है। यह आम बात है कि 'एक चेहरे पे कई चेहरे लगे लेते हैं लोग' यानि हम अपनी जिंदगी में न जाने कितने मुखौटे (मॉस्क) लगाए फिरते हैं। फिर नाटककार इसे 'बॉक्स' क्यों कहता है, 'मॉस्क' क्यों नहीं? या कि नाटककार का 'बॉक्स' इन सबसे परे की कोई कल्पना है? पर मनोज नायर की निर्देशकीय कल्पनाशीलता की बानगी, कदम-कदम पर देती है ये प्रस्तुति। कमल जैन की प्रकाश योजना संतुलित रही और पार्श्व संगीत सटीक। उज्जवल सिन्हा के बनाए बॉक्स और स्कूल बैग बहुत प्यारे थे।

नाट्य उत्सव की 7वीं शाम म.प्र. नाट्य विद्यालय के छात्र कलाकारों ने जबलपुर के वरिष्ठ रंगकर्मी अरुण पांडेय के निर्देशन में नाटक 'हंसा उड़ चल देस बिराने' की मर्मस्पर्शी प्रस्तुति दी। जन कवि ईसुरी के व्यक्तित्व और कृतित्व के अनेक पहलुओं को कथासूत्र में पिरोकर रची इस नाट्य रचना में छात्रों ने जिस आत्मविश्वास के साथ बुंदेली बोली और लहजा पकड़ा उसने मंचन को यादगार बना दिया। प्रसिद्ध संगीतकार गायक मुरलीधर नागराज की ठेठ बुंदेली माटी की महक लिए धुनों और कलाकारों की बढ़िया संगति ने दर्शकों को बेहद आनंदित किया। ईसुरी के रोल में गगन श्रीवास्तव, भरोसे बब्बा (पियूष वर्मा), रज्जो (श्वेता केलकर) और भौजी (श्रुतिका जोग) का काम विशेष रूप से सराहा गया। इस नाटक को थोड़े संपादन की जरूरत है। कुछ समूह दृश्यों को कम करने से नाटक की प्रभावोत्पादकता बढ़ सकती है।

पांच अप्रैल की शाम 'नया थिएटर' की प्रस्तुति 'गाँव नाम ससुराल, मोर नाम दामाद' देखने इतनी बड़ी संख्या में दर्शक पहुँचे कि मंच के अलावा कहीं भी पैर रखने की जगह नहीं रही। लंबे अंतराल के बाद प्रस्तुत होने की वजह से नाटक में तकनीकी खामियाँ दिख रही थीं और बढ़ती उम्र का असर कलाकारों के संवादों और हावभावों से स्पष्ट झलकता था। फिर भी नया थिएटर के सभी कलाकारों ने पूरे जी-जान से कथानक का निर्वाह किया। 'कर्टेन रेजर' के समय जब उद्घोषक ने स्व. हबीब तनवीर के सम्मान में करतल ध्वनि की अपील सदन से की तो उनकी पुत्री व नाटक की प्रमुख पात्र नगीन तनवीर की आँखें नम हो उठीं। इसी शाम कला समीक्षक विनय उपाध्याय द्वारा संपादित 'रंग संवाद' के ताजा अंक का विमोचन म.प्र. राज्य नाट्य विद्यालय के निदेशक संजय उपाध्याय और कथाकार-कवि संतोष चौबे ने किया।

समापन संध्या विवेचना, जबलपुर द्वारा प्रगति विवेक पांडेय के निर्देशन में मोहन राकेश के कालजयी नाटक 'आधे-अधूरे' का मंचन हुआ। विवेक-प्रगति पांडे के कुशल अभिनय से सजी इस प्रस्तुति में एक ऐसी स्त्री की त्रासदी है जो एक तरफ घर परिवार का बोझ ठोने के लिए नौकरी करने को विवश है तो दूसरी ओर अपने मन के मीत की खोज में एक से दूसरे पुरुष की ओर खिंचती रहती है। मगर किसी में भी पूर्णत्व नहीं पाती, क्योंकि सभी आधे-अधूरे हैं। नाटक में लड़के के किरदार में संदीप पांडे और बड़ी लड़की (अलंकृति) ने काफी प्रभावित किया। विवेक पांडेय पहले तीन किरदारों में काफी जँचे पर अंतिम (जुनेजा) रोल में उनकी संवाद अदायगी का 'ठहराव' और ठंडापन थोड़ा अखरने वाला था। ध्वनि प्रभाव भी कुछ जगह अनुपयुक्त लगा। वेशभूषा पर थोड़ा और विचार किया जाना आवश्यक है। खासकर परुष दो को लाल शर्ट और बिन्नी को पीले सूट की जगह कोई और रंग दिया जाना था।

वैसे अंतिम दृश्य में महेन्द्रनाथ की वापसी दिखाने के लिए जिस निर्देशकीय सूझबूझ का प्रयोग हुआ, वह काबिले तारीख था। सावित्री के किरदार में प्रगति का अभिनय दर्शकों के दिलों को छू गया। उन्होंने नाटक के 'संघर्ष' को बखूबी चित्रित किया। छोटी लड़की (बिन्नी) का किरदार नाटककार द्वारा सुनियोजित ढंग से 'लाउड' बनाया गया है और एकता साहू ने उसे अच्छी तरह से पेश किया। एक ही कलाकार द्वारा चार पुरुष पात्र करना एक बड़ी चुनौती थी, जिसे विवेक पांडे ने यथाशक्ति निभाया।

कुल मिलाकर 14वाँ रंग आधार नाट्य समारोह भोपाल के रंगप्रेमियों के लिए होली रंगपंचमी के अवसर पर नवरंगों की अनूठी सौगात दे गया।

संवाद की कमी से ठहर गया नाटक

नाटक जैसे प्रभावी कला माध्यम ने आज औसत दर्जे की प्रस्तुतियों के कारण अपना प्रभाव खो दिया है। लेखक-रंगकर्मियों के बीच संवाद की लय टूट गई है। रंगमंच पर नाटक तो हो रहे हैं, लेकिन उसकी मुकम्मल आवाज़ नहीं सुनाई दे रही है।

इस आशय के विचारों के साथ ख्यातनाम नाटककार-कवि और आलोचक राजेश जोशी ने सांस्कृतिक संस्था 'कला समय' के विचार-प्रसंग में शिरकत की। विश्व रंगमंच दिवस (27 मार्च) की पूर्व संध्या भोपाल के स्वराज सभागार में आयोजित इस विशेष व्याख्यान के उपरांत वरिष्ठ कथाकार और वनमाली सृजन पीठ के अध्यक्ष संतोष चौबे ने कहा कि बदलते परिदृश्य में रंगकर्मियों को नई सामाजिक सांस्कृतिक और वैचारिक चुनौतियों को ठीक से पहचानकर नाटक को नई ऊर्जा देनी होगी। उन्होंने मशविरा दिया कि परंपरा और आधुनिकता के बीच रचनात्मक साझेदारी ही हमें अपने समकाल में बने रहने का आधार दे सकती है।

''आज औपचारिक थिएटर चल रहा है। उसकी कोई हलचल समाज में नहीं दिखाई दे रही है। न तो प्रयोग के स्तर पर और न ही नई चुनौती को स्वीकार करने के स्तर पर कोई उद्वेलन नज़र आ रहा है।''

विचार-प्रसंग का एक और आकर्षण था- नाट्य विधा पर केन्द्रित रंगकर्मी सच्चिदानंद जोशी की भावपूर्ण कविताओं का पाठ। आरंभ में 'नांदी पाठ' कविता का वाचन हुआ- ''शुरू हो गया नांदी पाठ/अब तुम्हें सजाना है नाटक/ पहले से लिखे गए आलेख को/जीवंत करना है अब''। इस प्रवाह को आगे बढ़ाते हुए कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने पढ़ा- ''ये मध्यांतर है/महत्वाकांक्षाओं को विराम दो/सुस्ता लेने दो कल्पनाओं को''। सौरभ अनंत ने 'भरत वाक्य' और संजय मेहता ने अभिनेता के अंतरंग को उद्घाटित करती रचना पढ़ी। सरोज शर्मा के रचना पाठ में रंगमंच की प्रतिबद्धता और अपने कला गुरू स्व. कारंत की स्मृति का स्वर मुखरित हुआ। इस मौके पर बहुप्रतिष्ठित सांस्कृतिक पत्रिका 'कला समय' के नव प्रकाशित अंक का विमोचन राजेश जोशी और संतोष चौबे ने किया। अतिथियों का स्वागत भंवरलाल श्रीवास, प्रेमशंकर शुक्ल, नरेन्द्र राय ने किया।

विश्व रंगमंच दिवस पर 'कला समय' का विचार-प्रसंग

व्याख्यान के विषय पर एकाग्र होने से पूर्व राजेश जोशी ने 'कला समय' की संस्थागत शुरूआत पर प्रसन्नता जाहिर की। उन्होंने कहा कि जनतांत्रिक संस्कृति की हिफाज़त के लिए इस तरह की संस्थाओं की ज़रूरत और अहमियत बढ़ गई है। निश्चय ही इससे संस्कृतिकर्म के लिए एक स्वायत्त स्पेस तैयार होता है। हिन्दी नाटक के आधुनिक परिदृश्य पर रौशनी डालते हुए जोशी ने जयशंकर प्रसाद के नाटकों का ज़िक्र किया और कहा कि प्रसाद के बाद नाट्य चिंतन लगभग शून्य हो गया है। उन्होंने भारतेन्दु के लोकप्रिय नाटक 'अंधेर नगरी' का हवाला दिया जिसमें नाट्य शास्त्र के विरुद्ध जाकर अपनी बात कहने का साहस उजागर होता है। जोशी ने कालिदास की नाट्यकृति 'शाकुन्तलम्' की मिसाल देते हुए कहा कि महाभारत में जो दुष्यंत धूर्त और लम्पट है वह कालिदास के कथानक में अलग किरदार धारण कर लेता है। प्रसाद युग के आगमन और उसके बाद पारसी थिएटर के प्रवेश ने चली आ रही रंग परंपराओं को चुनौती दी 'अंधेर नगरी' इसका उपयुक्त उदाहरण है।

राजेश जोशी ने अपने विषय के प्रवाह में मूर्धन्य रंगकर्मी हबीब तनवीर का संदर्भ जोड़ते हुए साफ किया कि किस तरह बोलियों का क्लासिकी से रिश्ता बनाते हुए भारतीय रंगमंच सृजनात्मकता का नया आसमान खोल सकता है। जोशी ने खेद जताते हुए कहा कि दुर्भाग्य से आज नाट्य चिंतन परिदृश्य से गायब हो रहा है। नाटक लिखने और करने वालों के बीच खाई नजर आती है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की भूमिका पर टिप्पणी करते हुए राजेश जोशी ने कहा कि एन.एस.डी. ने नाटकों की सक्रियता तो बढ़ाई पर इस संस्था ने लेखकों का निषेध किया। नई विधाएँ तो बनाई पर मौलिक नाट्य लेखन उपेक्षा का शिकार हुआ। अजीब विडंबना है कि हिन्दी में नाट्य लेखक को स्वीकृति नहीं मिलती।

मौजूदा नाट्य सरगर्मी की ओर रुख करते हुए राजेशजी ने कहा कि आज औपचारिक थिएटर चल रहा है। उसकी कोई हलचल समाज में नहीं दिखाई दे रही है। न तो प्रयोग के स्तर पर और न ही नई चुनौती को स्वीकार करने के स्तर पर कोई उद्वेलन नज़र आ रहा है।

जोशी के व्याख्यान में उभरी चिंताओं और सवालों से सहमति जताते हुए कथाकार-कवि संतोष चौबे ने अपने अध्यक्षीय भाषण में इस बात पर जोर दिया कि परंपरा को ठीक से समझे बिना नाटक में उसके प्रयोग बेमानी साबित हो सकते हैं। हमें देखना होगा कि पारंपरिक कोस्मोलॉजी में मार्डन थीम अँटती है या नहीं। चौबे ने कहानी और कविता के रंगमंच को अत्यंत संवेदनशील प्रयोग बताते हुए राय जतायी कि नाटक में कहानी और कविता का डी कंस्ट्रक्शन होता है और इससे उसका मूल विचार या अनुभव किल हो जाता है। संतोष चौबे का मानना था कि आज के नाटकों में क्राफ्ट ज्यादा है और विचार कम इसलिए वह दर्शकों को उद्वेलित नहीं कर पा रहा है। उन्होंने कला समय की संस्थागत शुरुआत पर प्रसन्नता जाहिर करते हुए यह अपेक्षा की कि यह मंच अपने समय और कलात्मक सृजन के बीच एक हस्तक्षेपकारी पुल की तरह भूमिका निभायेगा। समारोह में शहर के रंगकर्मी, साहित्यकार बड़ी संख्या में उपस्थित थे। संचालन विनय उपाध्याय ने किया। **-प्रेमशंकर**

कविता-पुरुष का
अंतरंग-बहिरंग

भवानी भाई की याद

एक कवि को नज़दीक से जानने की यह ऐसी घड़ी थी जिसमें बातचीत, संस्मरण, कविता पाठ से लेकर नई टेक्नॉलॉजी यानी वेबसाइट के सहारे 'मन्नाबाबू' खुल रहे थे। चार सत्रों में फैला आयोजन जिस कवि पर केन्द्रित था वो पंडित भवानी प्रसाद मिश्र थे। बोलने वालों में परिवार के सदस्यों के इतर और भी लोग थे। आयोजन बेशक सार्थक और गरिमा से दीप्त और जरूरी था।

छत्तीसगढ़ संस्कृति फाउंडेशन रायपुर की इस महत्वपूर्ण पहल का प्रभावी सत्र था- भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं की सांगीतिक अदायगी। ज्येष्ठ पुत्र अमिताभ मिश्र इसे लेकर आए थे और सादगी से लेकिन सुरीले ढंग से उन्होंने कविताएं सुनाई। उन्होंने उन संदर्भों और संस्मरणों को भी उद्घृत किया जो इन गायी गई कविताओं का रचनात्मक आधार बने हैं। अंतिम सत्र जिसमें अशोक वाजपेयी, प्रेमशंकर रघुवंशी, प्रभात त्रिपाठी, विनोद कुमार शुक्ल आदि ने कविताएँ पढ़ीं, वह मात्र औपचारिक होकर रह गई। अलबत्ता, काव्यपाठ का ही वह सत्र जिसमें भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं को रवि श्रीवास्तव, अशोक सिंघई, रमेश अनुपम, बसंत त्रिपाठी, पुष्पा तिवारी, डॉ. सुभद्रा राठौर एवं रूचिरा भार्गव ने पढ़ा, सार्थक प्रयोग लगा।

भवानी पुत्र अमिताभ

सुबह पहला सत्र डॉ. सच्चिदानंद जोशी, कुलपति कुशाभाऊ ठाकरे पत्रकारिता एवं जनसंचार वि.वि. के मुख्य आतिथ्य और कवि प्रेमशंकर रघुवंशी की अध्यक्षता में काफी खुला। अशोक सिंघई ने कहा कि भवानीजी में यही खासियत थी कि उन्हें पढ़ने के बाद पाठक खुद को अधिक बड़ा पाता था। डॉ. सुभद्रा राठौर की राय में वे गांधीयत्व की गंध से सराबोर थे। नागपुर निवासी बसंत त्रिपाठी ने अपनी लिखित टिप्पणी में 'उन्हें कविता की दुनिया में न्यौता देने की वाले की तरह देखा।' भवानी बाबू की पोती रूचिरा भार्गव ने अपने दादा की कविताओं से जुड़ने और वेबसाइट बनाने का ख्याल कैसे आया उसका खुलासा किया। भोपाल निवासी कला आलोचक विनय उपाध्याय के अनुभव में 'वे जीवन की प्रसन्नता के कवि थे।' उनके कवि व्यक्तित्व को पारदर्शी कहते हुए श्री उपाध्याय ने इसे साबित करने अपने महाविद्यालयीन दिनों में, जब भवानी बाबू से बतौर छात्र सामना हुआ उन स्मृतियों को दोहराया। अगले वक्ता अमिताभ मिश्र ने तो यह कहते 'बहुत कुछ' कह दिया कि अपने पिता के बारे में बोलना सचमुच मुश्किल है और इसीलिए इनकी कविताओं की सस्वर प्रस्तुति की तरफ वे मुड़े। अध्यक्षीय आसंदी पर उपस्थित हरदा से आए प्रेमशंकर रघुवंशी ने भवानी के आमजीवन पर बात की। मसलन युवावस्था की खासियतें कि समाज का दुख कैसे उनका व्यक्तिगत दुख बन जाता था और कहा वे आइना नहीं देखते थे, आइना दिखाते थे। उन्हें गौर से देखने वाला समीक्षक नहीं मिला। मुख्य अतिथि डॉ. जोशी ने बताया कि सरलता से कैसे जिया जाए यह उनसे सीखा जा सकता है। उन्होंने कभी अपनी धार को खामोश होने नहीं दिया।

उधर, सायंकालीन मूल्यांकन सत्र में प्रभात त्रिपाठी, डॉ. राजेन्द्र मिश्र, अनुपम मिश्र, अशोक वाजपेयी और विनोद कुमार शुक्ल सुने गए। श्री वाजपेयी की राय में उन्होंने साधारण की महिमा को कविता में पहचानने का काम किया, लेकिन वे कविता जिस तरह से पढ़ा करते थे, वैसा यहां किसी ने नहीं पढ़ा। भवानी बाबू के पुत्र अनुपम मिश्र ने 'मन्ना' कैसे कहलाए यह जानकारी दी। नई दिल्ली निवासी और पानी के प्रश्नों को लेकर जूझने वाले श्री मिश्र ने उपस्थित वक्ताओं को यह मंत्र भी दिया किसी भी कवि को छोटा या बड़ा ना कहें।

छत्तीसगढ़ के राज्यपाल शेखर दत्त पं. भवानी के जन्मशती प्रसंग के निमित्त आयोजित इस समारोह के समापन सत्र में बतौर मुख्य अतिथि उपस्थित थे। उन्होंने मध्यप्रदेश से प्रकाशित एकमात्र बहुचर्चित सांस्कृतिक पत्रिका 'कला समय' का विशेषांक राग भवानी के संपादक विनय उपाध्याय की मौजूदगी में विमोचन किया। सत्रह वर्षों से अबाध प्रकाशित हो रही इस पत्रिका का यह एक सौ छः पृष्ठीय अंक अपने कलेवर में भवानी प्रसाद मिश्र के जीवन और सृजन के अनेक पक्षों का उजास समेटे है। 'राग भवानी' जैसे सुरीले शीर्षक के साथ ही पन्ने-दर-पन्ने हमारे समय का शताब्दी कवि अपने अंतरंग-बहिरंग में खुलता चला जाता है। इस श्रम साध्य सम्पादन और संयोजन के लिए विनय उपाध्याय का साधुवाद। उनके संपादकीय विवेक को पाठकों ने पूर्व में प्रकाशित कई विशेषांकों में अनुभव किया है। 'कला समय की यह दस्तावेजी प्रस्तुति निश्चय ही भवानी के बहाने मनुष्यता को लक्ष्य करने का जरिया बनी है।

रायपुर से प्रकाशित इतवारी अखबार के भवानी अंक का भी सहायक संपादक सुशील भोले की उपस्थिति में विमोचन हुआ। इसी क्रम में रूचिरा भार्गव निर्मित वेबसाइट राज्यपाल ने लोकार्पित की। राज्यपाल ने इस मौके पर कहा कि भवानी जी की कविताएं कारीगर की तरह बुनी हुई हैं। श्री दत्त ने एक रचना 'मैं गीत बेचता हूँ' भी पढ़ी। इस समूची परिकल्पना के जनक कनक तिवारी, जो फाउंडेशन के संयोजक भी हैं, उन्होंने जहाँ-जहाँ जरूरत पड़ी पते की बात करते दर्शक, मेहमान, वक्ता और आयोजन के मध्य तारतम्य बांधते संचालक और आभार प्रदर्शन की भूमिका निभाई। नये विश्रामगृह में 'भवानी प्रसाद मिश्र : शताब्दी का अनंत' नामक यह शताब्दी वर्ष में आयोजित कार्यक्रम (अनुपम मिश्र के कहे के मुताबिक, 'श्री तिवारी ने अंत में एक 'अ' अतिरिक्त जोड़कर इसे अद्भुत अनंत बना दिया)।

-राजेश गनोदवाले

और शहर में दंगा होते-होते बचा...

भोपाल के स्वराज संस्थान के सभागार में हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार संतोष चौबे ने अपनी ताज़ा कहानी 'गरीब नवाज़' का पाठ किया। कार्यक्रम पहले-पहल, स्पंदन तथा वनमाली सृजन पीठ के तत्वावधान में सम्पन्न हुआ। इस पाठ प्रसंग में कथाकार ने अपने अनुभव संसार से रचनात्मक संवाद करते हुए आज के लोकतांत्रिक ढाँचे पर जरूरी विमर्श छेड़ा। उन्होंने अपने समाज और विधायिका को कटघरे में खड़ा किया।

आयोजन वरिष्ठ कथाकार मुकेश वर्मा के आधार वक्तव्य से शुरू हुआ। उन्होंने कहा कि संतोष चौबे की कहानियों में जहाँ एक ओर भाषा की समयोचित अनुकूलता और सम्प्रेषनीयता को लेकर पर्याप्त सतर्कता और सजगता है तथा सशक्त अभिव्यक्ति के लिए जरूरी मुनासिब शब्दों के चयन में सूझ-बूझ झलकती है, वहीं कथ्य गहरे सामाजिक यथार्थ का बोध कराते हुए चलते हैं और ओझल हो रही सच्चाईयों के रू-ब-रू हमें रखते हैं। इसके साथ ही मानवीय सरोकारों और प्रगतिशील मूल्यों के प्रति अपने आग्रह को भी ना तो वे छुपाते हैं और ना ही झंडे की तरह लहराते हैं बल्कि अपनी रचना के विन्यास में दृढतापूर्वक संयोजित कर उसे रेशे-रेशे में समाहित करते हैं। तभी उनकी कहानियां सामान्य कलेवर के चलते भीतर गहन और मार्मिक अर्थों और आशयों को संजोये रखती हैं।

भोपाल की साहित्य बिरादरी ने सुनी संतोष चौबे की नई कहानी 'गरीब नवाज़'

कथाकार मुकेश वर्मा ने आगे कहा कि संतोष अपनी कहानियों में शब्दों और उनसे निर्मित बिम्बों से दृश्य बनाते चलते हैं। वे कहानी कहते नहीं, उसे विजुलाइज़ करते हैं। संचालन करते हुए कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने संतोष चौबे के कृतित्व एवं व्यक्तित्व की चर्चा की। उन्होंने पाठ परंपरा पर भी प्रकाश डालते हुए कहा कि किसी भी रचना का पाठ रचना का पुनर्जन्म होता है क्योंकि वाचिक अभिनय के दौरान लेखक का अपना अनुभव और भीतरी भाव भंगिमाएँ संप्रेषणता का अतिरिक्त प्रभाव पैदा करती है। कहानी कला को सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत करने का काम संतोष चौबे बखूबी करते हैं।

इस पृष्ठभूमि के बाद कथाकार संतोष चौबे ने अपने लघु वक्तव्य के साथ कथा-पाठ किया। उन्होंने कहा कि मैं कहानी में कहानीपन का पक्षधर हूँ। एक ड्रामा जो सतह पर चलता है। वह सतह से नीचे अथवा सतह के ऊपर हो, कहानी के साथ होना जरूरी है, ऐसा मैं मानता हूँ।

इस भाव की पृष्ठभूमि पर संतोष चौबे ने जो कहानी पढ़ी उसका सार कुछ यूँ है कि विश्वमोहन एक्सेल इन्फोटेक के प्रमुख हैं। वे एक रुतबेदार व्यक्ति हैं। कलाप्रेमी हैं। शाकाहारी हैं और एक संवेदनशील मानुष हैं। एक दिन वे अपने शानदार ऑफिस के बाउंड्री से चिकन बेचने वाले की गुमठी लगी देखते हैं और असहज हो जाते हैं। फिर अपने रुतबे और सामर्थ्य के अनुसार वे उसे हटवाने का प्रयास करते हैं। उनके पास मांसाहार के खिलाफ पर्याप्त तर्क और कारण हैं। वे इस अतिक्रमण (संभवत: गैरकानूनी) के खिलाफ हैं। कहानी बड़े रोचक ढंग से आगे बढ़ती है। नेरेटिव फार्म, संवाद और लेखकीय टिप्पणी इसे प्रवाह देते हैं। चूंकि कहानी एक बारगी फ्लैश बैक में जाती है जहाँ नायक के बालमन में हिंसा के प्रति जुगुप्सा भाव है। वह अपने पड़ौस के पंजाबी परिवार के बुजुर्ग व्यक्ति 'दारजी को मुर्गी हलाल करते हुए देखता है और आक्रांत हो जाता है।

कहानी पर हुआ विमर्श

कालान्तर में यह घटना इस चिकन शॉप की गुमठी के अतिक्रमण से दो-चार होने का संबल होती है। विश्वमोहन अपने तक उसे बंद भी कराते हैं किन्तु एक दिन अचानक न्यायालय से सम्मन आता है तो विश्वमोहन की परेशानी बढ़ जाती है। वे अपने वकील दोस्त सरफराज के साथ अदालत जाते हैं जहाँ कुछ मशक्कत के बाद उनकी सुनवाई

होती है और ज्ञात होता है कि गुमठी लगाने वाले ने विश्वमोहन पर लड़ने-झगड़ने का आरोप लगाया है। न्यायाधीश उन्हें चेतावनी देकर छोड़ देते हैं। कहानी इतनी ही है किन्तु जो नाटकीयता की बात आरंभ में की गई थी वह कहानी के अंत से उजागर होती है। जहाँ कथाकार लिखता है कि वह अगले दिन अपनी चमचमाती मर्सिडीज में बैठकर अपने ऑफिस पहुंचा।

कार से उतरते ही उसकी निगाह 'गरीब नवाज चिकन शॉप' पर पड़ी। आज वहां ज्यादा चहल पहल थी। ग्राहकों की आवाजाही और चिकन की बिक्री उठान पर थी। और एक नई बात भी थी। दुकान की खिड़की के बांई ओर, अपने आंतरिक अंग प्रदर्शित करता हुआ, एक बकरा भी उल्टा लटक रहा था, जिसका पेट बीच से चिरा हुआ था। दुकान के ऊपर नया बोर्ड लगा था- गरीब नवाज चिकन एंड मीट शॉप। यहाँ बकरे का ताजा गोश्त भी मिलता है। विश्वमोहन ने एक बार घूर कर रियाज की ओर देखा। आज रियाज ने भी भरपूर निगाहों से विश्वमोहन को जवाब दिया। विश्वमोहन की आँखों में वितृष्णा थी और रियाज की आँखों में बेपरवाही। विश्वमोहन को लगा कि वह रियाज से कुछ कहे। पर उसे वकील दोस्त सरफराज और अदालत के गरीब नवाज जज साहब की याद आ गई। उसने कुछ नहीं कहा।

उसने अभी अभी भारतीय लोकतंत्र का एक बड़ा पाठ पढ़ा था।

शहर में अभी-अभी एक दंगा होते-होते बचा था।

अंतिम दो वाक्य कहानी के प्राण हैं। पहला 'उसने अभी-अभी भारतीय लोकतंत्र का एक बड़ा पाठ पढ़ा था।' समूची व्यवस्था को कटघरे में खड़ा करता है। हमारी विधायिका में जितने लोच हैं, वे परत-दर-परत सामने आ जाते हैं। ठीक इसी तरह दूसरा वाक्य है कि 'शहर में अभी-अभी दंगा होते-होते बचा था।' एक तीखा व्यंग्य है। यह सटायर बताता है कि हमारा खान-पान, व्यवहार किस तरह धर्मांधता से जुड़ जाता है। इस तरह एक ड्रामेटिकल अंदाज में इस कहानी का अंत होता है। सभागार में उपस्थित श्रोताओं को लगता है कि वे आज एक अच्छी कहानी लेकर घर लौट रहे हैं।

कथाकार तथा दूरदर्शन भोपाल के पूर्व अपर महानिदेशक शशांक ने इस कहानी पर टिप्पणी देते हुए कहा कि संतोष अपनी कहानियों में अतिशय विनम्र हैं। उनके यहाँ अंतर्विरोधों की जद्दोजहद है। और पात्रों का संघर्ष लगातार उनकी कहानी में नजर आता है। नेरेटिव फार्म संवाद और भाषा में सादगी उनकी खूबी है। यही कारण है कि उनकी कहानी प्रेज्मेटिव रूप में सामने आती है और जीवन के कई-कई रंग बिखेरती है। इधर हिन्दी के लेखक विचार, वाद और चिंताओं का बोझा ढोते नजर आते हैं। संतोष इनसे विमुख हैं।

कथाकार उर्मिला शिरीष ने आभार व्यक्त किया। सभागार में राजेश जोशी, रामप्रकाश त्रिपाठी, द्वारकेश नेमा, विजय बहादुर सिंह, राजेन्द्र शर्मा, रमेश दवे, वीरेन्द्र जैन, डॉ. पद्माकर सराफ, अशोक देशमुख, राग तैलंग, कुमार सुरेश, नवल शुक्ल, अनिल करमेले, रेखा कस्तवार, सविता भार्गव, नीलेश रघुवंशी, प्रज्ञा रावत, डॉ. आरती, विनीता चौबे, वसंत सकरगाए, आनंद सिन्हा, महेश सिंह, अशोक बुलानी, संतोष कौशिक, महेन्द्र गगन, उर्मिला शिरीष, शैलेन्द्र शैली, इकबाल मसूद, श्याम मुंशी सहित हिन्दी-उर्दू के कई साहित्यकार व श्रोता बड़ी संख्या में उपस्थित रहे।

-मोहन सगोरिया

कस्बे का कलाकार

संगीत बन गया सारथी

संगीत किसी के लिए इतना प्रिय हो कि वह व्यवसाय को गौण मान कर संगीत की साधना को ही जीवन का लक्ष्य माने तो ऐसे कलाकार की संगीत साधना की सुरभि दूर-दूर तक जरूर पहुँचती है। ऐसे ही एक युवा संगीत साधक हैं- आशुतोष पाठक। आशुतोष मानो जन्म से ही सुर और सरगम की जानकारी रखते हैं। उनके पिता श्याम स्वरूप पाठक जब घर में भजन और सूफी गायन का रियाज करते तो हारमोनियम की स्वर लहरियाँ और पिता की आलाप भरी तानें आशुतोष के शिशु मन में संस्कार की तरह रचती बसती रहीं। अपने एकांत में हारमोनियम पर अंगुलियाँ चलाने लगे। रोजी-रोटी के लिए पढ़ाई के दौरान वे चाहकर भी संगीत की इस मधुरिम जगती में अपने पाँव रखने का समय नहीं निकाल पाते। गणित और विज्ञान के प्रश्नों को हल करते हुए उन्होंने इलेक्ट्रिकल में इंजीनियरिंग की पत्रोपाधि प्राप्त की। लेकिन उनका मन तो रमता था गायन-वादन की दुनिया में, सो वे अब स्कूल में संगीत-शिक्षक के रूप में बच्चों को मौसिकी की तालीम देने में संतोष महसूस करते हैं। वे संगीत प्रभाकर भी हैं।

दरअसल आशुतोष की विलक्षणता इसमें है कि वे स्वयं की सृजित रचना बहुत प्रभावशील तरीके से गाते हैं। वे किसी भी शब्द रचना को नगण्य से अंतराल में संगीत रचना में इतने मौलिक संयोजन में ढालते हैं कि उनकी इस कूबत पर आश्चर्य होता है। उनकी इस विलक्षण क्षमता को शहर के सुधीजनों ने पहली बार 2003 में माना था जब उन्होंने विदिशा के पाँच कवियों की दिलकश कविताओं को संगीतबद्ध कर समारोह पूर्वक पेश किया। कवि थे श्री जैन, आलोक श्रीवास्तव, ब्रज श्रीवास्तव, त्रिलोक महावर, रवीन्द्र प्रजापति, निसम मालवी और नर्मदेश भावसार थे। आशुतोष की तत्काल धुन रचने की इस कला पर हर संपर्क में आने वाला चकित होता। इसी साधना के चलते उन्हें आकाशवाणी ग्वालियर ईटीवी मध्यप्रदेश और संस्कार चैनल पर गायन के एकाधिक अवसर मिले हैं। आकाशवाणी भोपाल में भी गायन यदाकदा प्रस्तुत करते हैं।

पंडित भीमसेन जोशी और पंडित जसराज से वे बेहद प्रभावित हैं। आशुतोष का मानना है कि संगीत का बेहतर असर तो शास्त्रीय-ढब से गायन से ही होता है। फिर सुगम संगीत जैसी विधा शब्द और संगीत की नातेदारी और अहसासों के गहरे ताल्लुकातों से ही संभव है। मेरी यह कोशिश है कि मैं कविता और मौसिकी की ठीक समझ अख्तियार कर एक मुकम्मल संगीत रचना तैयार कर सकूँ। फिल्मी संगीतकारों में वे सी. रामचन्द्रन, मदनमोहन, कल्याण जी आनंद जी, ए.आर. रहमान और जतिन ललित की संगीत रचनाओं के दीवाने हैं। आशुतोष स्वयं को अभी एक विद्यार्थी मानकर ही अपनी साधना कर रहे हैं।

-ब्रज श्रीवास्तव

कला के मनछूते मौसम

भारत भवन में उमड़ा राग-रस

अपने समय की समावेशी सृजनात्मकता से रसिकता के नए रिश्ते बनाता रहा कलाओं का घर भारत भवन इन दिनों गुलज़ार है। संगीत, नृत्य, नाटक, रुपंकर और साहित्य के आसपास हो रही बेसाख्ता गतिविधियों की आहट दूर तक सुनाई दे रही है। घरानों और परंपराओं की विरासत और प्रयोग के नवाचारी आग्रहों के साथ देश भर के कलाकार भोपाल के इस सिद्ध सांस्कृतिक मंच पर अपनी आमद दर्ज कर रहे हैं और रसिकों का रेला सरोवर किनारे की श्यामला पहाड़ी पर बसे भवन की ओर उमड़ रहा है। तमाम विरोधाभासों के बावजूद सांस्कृतिक बहुलता के बीच समन्वय का आग्रह रखने वाले भारत भवन के प्रति कला प्रेमियों का अनुराग बना हुआ है। प्रस्तुति के लिए आये कलाकार धन्यता का ज्ञापन करते हैं और बार-बार बुलाए जाने की हसरत के साथ अलविदा कहते हैं। पिछले समारोहों के साथ कुछ ऐसी ही सुनहरी स्मृतियों के तार जुड़े।

सदियों की साधना और चिंतन के बाद पल्लवित हुई घरानेदार गायिकी पर केन्द्रित नव रचित श्रृंखला 'गायन पर्व' के तहत ध्रुपद संगीत का ओजस्वी स्वर मुखरित हुआ। 17 से 19 मई तक आयोजित यह समारोह हमारे वक्ती दौर की तीन ध्रुपद-धाराओं को आत्मसात करने का दुर्लभ अवसर बना। डागर घराना, बेतिया घराना और दरभंगा घराना की गायन शैलियों को सुनने गुनने और उसमें हो रहे रचनात्मक परिवर्तनों को लक्ष्य करने की गरज लिए भोपाल ही नहीं, बाहर के संगीत प्रेमी और जिज्ञासु-शोधार्थी भी सभाओं में शरीक हुए। एक तरह से यह सभा संगीत के आनंद और संवाद का खुला मंच भी बनी। हाल ही दिवंगत मूर्धन्य ध्रुपद गायक उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागर की याद को अर्पित इस गायन पर्व की पहली बैठक डागर घराने पर ही एकाग्र थी। शुरुआत ध्रुपद गुरुकुल संस्थान भोपाल के शिष्यों की समवेत गान-प्रस्तुति से हुई। ये उस नई पीढ़ी का कंठ-स्वर था जो डागर वाणी को आत्मसात करते हुए नई शताब्दी में अपनी पहचान और काबिलियत साबित करना चाहती है। पहली सभा में उस्ताद सईदुद्दीन डागर को उनके सहयोगी गायक नफीसुद्दीन और अनीसुद्दीन डागर के साथ सुनना परंपरा को उसके शुद्धतम प्रवाह में बहते देखने का दुर्लभ संयोग था। मोहन श्याम शर्मा ने पखावज चौताल और सूल ताल का अच्छा ताल-मेल बनाया। दूसरी शाम पंडित फाल्गुनी मित्रा बंगाल के बेतिया घराने की बेशकीमती सीखों और खासियतों के साथ पेश आए. भाव के भीतरी अहसासों को गान-स्वरों में उद्घाटित करते हुए उन्होंने 'यमन' में लंबा आलाप लिया। राग से अंतरंग सूत्र बनाए और उसके बाद चौताल में ध्रुवपद 'जगपति जगवंदना करि' सुनाकर इबादत का रूहानी माहौल बनाया। अपूर्वलाल मन्ना की पखावज ने बहुत संयम के साथ फाल्गुनीजी के गायन को लय-ताल में साधा। बिहार में परवान चढ़े ध्रुपद के दरभंगा घराने का प्रतिनिधित्व करने पंडित प्रेम कुमार मलिक और प्रशांत-निशांत मलिक श्रोताओं के सम्मुख प्रकट हुए। राग चुना-भूप कल्याण। तिगलबंदी का बहुत अनुशासित तालमेल ध्रुपद की गायिकी में सुरुचि और रंजकता के नए पहलू जोड़ता रहा। समापन राग चारुकेशी में निबद्ध एक बंदिश गाकर किया।

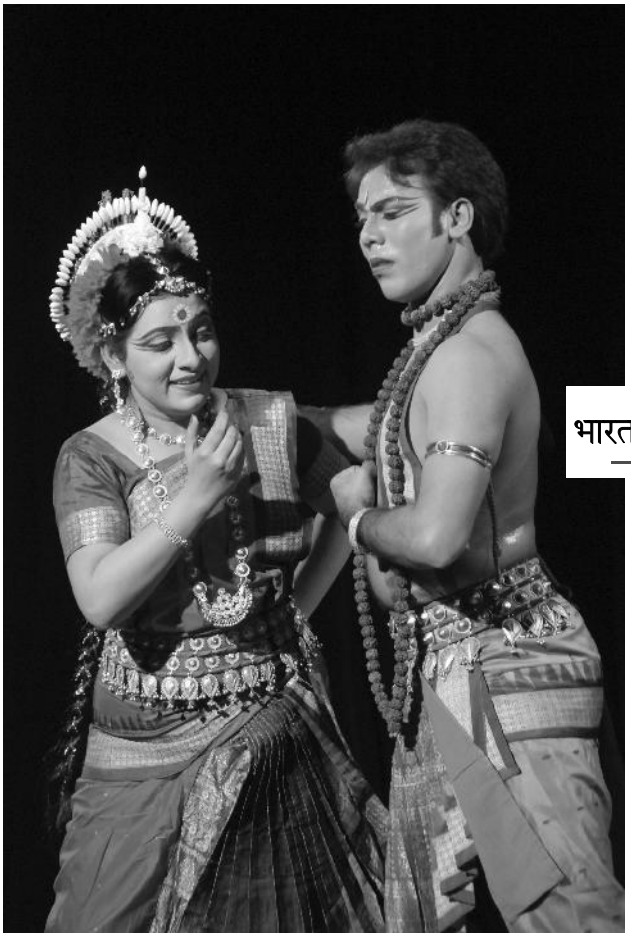

घरानों और परंपराओं की विरासत और प्रयोग के नवाचारी आग्रहों के साथ देश भर के कलाकार भोपाल के इस सिद्ध सांस्कृतिक मंच पर अपनी आमद दर्ज़ कर रहे हैं और रसिकों का रेला सरोवर किनारे की श्यामला पहाड़ी पर बसे भवन की ओर उमड़ रहा है।

एक अन्य महत्वपूर्ण समारोह दार्शनिक प्रज्ञा और सांस्कृतिक संचेतना के धनी महान सन्यासी स्वामी विवेकानंद की एक सौ पचासवीं जयंती के निमित्त हुआ।

नाटक, व्याख्यान और गायन के जरिए भारत के एक योद्धा सन्यासी के उन अज्ञात, अछूते पहलुओं को प्रकाशित करने की पहल संभव हुई जिन्हें जानकर स्वामीजी की महानता एक अलग तरह से रेखांकित होती है। वरिष्ठ रंगकर्मी पापियादास गुप्ता के नाट्य आलेख पर अनुभवी अभिनेता आलोक चटर्जी ने स्वयं के निर्देशन में पहले दिन 7 जून को खेला- 'स्वामी विवेकानंद'। दोस्त नाट्य समूह के लिए तैयार इस प्रस्तुति में आलोक परत-दर-परत एक महात्मा के जीवन के सत्य को खोलते चलते हैं। मसलन स्वामीजी गहरे सांगीतिक संज्ञान के व्यक्ति थे। पाक कला में माहिर थे। कुश्ती के दांव-पेंच बखूबी जानते थे और उनकी कलम ने गाहे-ब-गाहे कविता की गंगा भी प्रवाहित की।

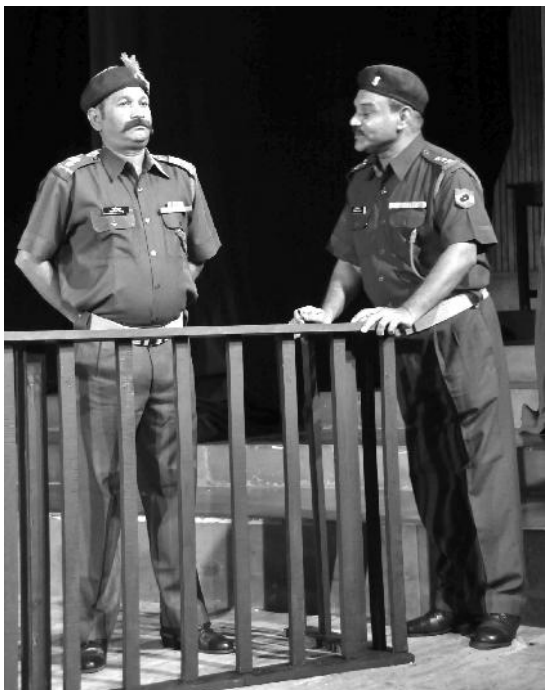

कोर्ट मार्शल : निर्देशन - शरद शर्मा (उज्जैन)

स्वामीजी की संगीत अभिरुचियों का खुलासा 9 जून की शाम प्रसिद्ध गायक पं. अजय चक्रवर्ती ने भी किया। उन्होंने बताया कि स्वामीजी ध्रुपद के साधक थे और राग-रागिनियों का उन्हें ज्ञान था। अपने गुरु पं. रामकृष्ण परमहंस के साथ वे प्रार्थना संगीत में हिस्सा लेते और वहाँ अंतरतम को पुकारने वाले भक्ति पदों को गाते। पं. चक्रवर्ती ने इस विवरण के साथ राग पूरवी में एक शिव वंदना और सूरदास का पद 'प्रभु मोरे अवगुन चित्त न धरो' गाया। गहरी संवेदना और समर्पण से भरी इस प्रस्तुति में स्वामीजी की आराध्या काली माता के बांग्ला गीतों की गुंजार भी वातावरण को श्रद्धा और आस्था की चेतना से मंडित करती रही। इन्द्रनील भादुड़ी (तबला), बृजेश्वर मुखर्जी (हारमोनियम) और गौतमदास (की-बोर्ड) ने बेहतर संगत की। समारोह के दौरान ही मूर्धन्य संस्कृति चिंतक और संस्कृत साहित्य के अध्येता डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने 'विवेकानंद का सम्प्रदाय' विषय पर सारगर्भित व्याख्यान दिया।

कजरी गायन : मालिनी अवस्थी

भारत भवन के संगीत प्रभाग 'अनहद' की श्रृंखला 'परंपरा' के अन्तर्गत लखनऊ से आयी कथक नृत्यांगना सुश्री कुमकुम धर ने भक्ति और श्रृंगार के मनोहारी रूपक रचे। तीन साल में लखनऊ घराने की तमाम शास्त्र सम्मत खासियतों को उन्होंने पर्याप्त शुद्धता से पेश किया। पदविन्यास में ताल के साथ पैरों के काम की सफाई और भावाभिनय में सुन्दरता के पारदर्शी बिम्बों की रचना करते हुए कुमकुम श्रोताओं को रिझाने में सफल रही।

साहित्य प्रभाग 'वागर्थ' द्वारा समकालीन कहानी के पाठ और विमर्श पर केन्द्रित 'कथा प्रसंग' और इसी तरह हमारे समय में रची जा रही कविता कथा के युवा स्वरों पर एकाग्र समारोहों की देश भर में चर्चा हुई है। वरिष्ठ उपन्यासकार विनोद कुमार शुक्ल, रवीन्द्र कालिया, चित्रा मुद्गल, मंजूर एहतेशाम, रमेशचन्द्र शाह, ज्योत्स्ना मिलन, मुकेश वर्मा, संतोष चौबे, ध्रुव शुक्ल, महेश कटारे, शंशाक, उर्मिला शिरीष, भालचन्द्र जोशी, हरि भटनागर, आकांक्षा पारे काशिव सहित अनेक महत्वपूर्ण कहानीकारों की शिरकत ने उद्वेलन जगाया वहीं नरेश सक्सेना, लीलाधर मंडलोई, अरुण कमल, लीलाधर जगूड़ी, गगन गिल, आशुतोष दुबे, पवन करण, यतीन्द्र मिश्र, प्रदीप मिश्र, प्रताप कदम, रवीन्द्र प्रजापति, हेमंत देवलेकर जैसे चर्चित कवि हस्ताक्षरों की शिरकत भी लक्ष्य की गयी। वागर्थ की एक अन्य विशिष्ट 'पाठ' श्रृंखला में उषा किरण खान, गोविन्द मिश्र, विजय बहादुर सिंह आदि की वैचारिक उपस्थिति गरिमा का प्रतीक बनी है।

भारत भवन की रंगभूमि पर दस से 14 जून के दरमियान हुए 'नाट्यरूप' समारोह ने कहानियों के मंचन का कौतुहल जगाया। प्रयोग के नए रंग-ढंग और जीवन अनुभवों की विविध भंगिमाओं के साथ मुंबई, बेगुसराय और भोपाल के रंगसमूहों ने दस्तक दी। चार दिवसीय नाट्य उत्सव की पहली शाम मुक्तिबोध की कृति 'समझौता' को बेगुसराय के द फैक्ट आर्ट एण्ड कल्चरल सोसायटी के कलाकारों ने प्रवीण गुंजन के निर्देशन में खेला। उसके बाद अन्य दिनों में स्व. कामतानाथ की कहानी 'संक्रमण' को लेकर मुंबई के मनोहर तेली नमूदार हुए।

भीष्म साहनी की बहुचर्चित बहुमंचित कथा 'सागमीट' को सीमा भार्गव के सुधरे अभिनय में अनुभव करना रोचक था। कल्पनाशील प्रयोग और आत्मविश्वास से भरा किरदार इस मंचन की खासियत रही। भोपाल की रंगकर्मी शोभा चटर्जी ने गोविन्द मिश्र की कहानी 'सन्ध्यानाद' का चयन किया और उसे कहानी की तमाम स्वायत्तता के बीच रंग अनुभव में ढाला। आखिरी दिन मंटों की तीन कहानियों ने उत्तेजना का परिवेश रचा। अभिज्ञान रूम थिएटर मुंबई के पारंगत कलाकारों ने 'सड़क के किनारे, एक खत और बादशाहत का खात्मा के जरिए दर्शकों को पूरा समय बांधे रखा।

बनारसी कंठ : पं. छन्नूलाल मिश्र

रूपंकर के परिसर में 'रूपाभ' प्रदर्शनी का सिलसिला काफी उत्साह और रौनक जगाता रहा है। विषय, माध्यम, शैली और नए प्रयोगों के साथ अपनी सर्जना में संलग्न खासकर युवा चित्रकार और शिल्पकारों के नए-पुराने काम को समावेशी दृष्टि से देखना निश्चय ही कलाप्रेमियों के लिए आकर्षण बना है।

इसी बीच आधुनिक भारतीय चित्रकला के नामवर हस्ताक्षर स्व. राजा रवि वर्मा को समर्पित 'आदरांजलि' ने देश भर की चित्रकला को समादृत करने का उपक्रम किया। आर्टिस्ट गिल्ड ऑफ एम.पी. के संयोजन में भारत भवन में इस आयोजन का छटवाँ साल था। प्रदर्शनी के सूत्रधार कैलाश तिवारी और श्रीकांत आप्टे के अनुसार इस कड़ी में दस से अधिक राज्यों की 72 कलाकृतियों को प्रदर्शनी हेतु चुना गया।

भोपाल की फिजाओं में घुलती सावन की बरसाती महक के साथ कजरी-झूला की लय-ताल भरी चहक ने सुरीली दस्तक दी तो मानों पूरा शहर ही भारत भवन की ओर खिंचा चला आया। 2, 3 और 4 अगस्त को बौछारों और बयारों से गमकते मौसम को पुकारने परंपरा के गायकों ने रुख किया और लोक स्तुति तथा संवेदनाओं से तार जोड़ती बंदिशों का संगीत छेड़ा। किसी ने विरही के संताप को गाया- 'सखि सावन आए, कंत नहीं आए' तो किसी ने मिलन की आस में छेड़ा अपना स्वर- ''बरसन लागी बदरिया रुम-झुम के''। सुने पे सुहागा ये कि अवधि भोजपुरी की मटियारी गंध को समेटती इन बंदिशों को गुनगुनाने पंडित छन्नूलाल मिश्र, सविता देवी और मालिनी अवस्थी जैसे स्थापित फनकारों से लेकर रीता देव, मणिमाला सिंह और नगीन तनवीर ने अपनी आमद दर्ज की।

भाव भरे भक्ति पद, सुर-ताल तथा लयकारी का मनोहारी ताना-बाना और इस सुंदर तालमेल को अपनी मोहक मुद्राओं में साकार करती नृत्यांगनाओं का समर्पण दर्शकों को एक अनोखे कलात्मक आनंद की सैर पर ले गया। भारत भवन (भोपाल) की अन्तरंग शाला में भरत नाट्यम की रंगभूमि पर युवा नृत्यांगनाओं के उत्साही प्रदर्शन की मिसाल बना कला रूपक ''नृत्यमंजरी''। मूर्धन्य नृत्य गुरु स्व. पंडित शंकर होम्बल की पुण्य स्मृति को समर्पित इस सभा में पौराणिक प्रसंगों से जुड़े आराध्य देवताओं- शिव, गणेश, श्रीराम और कृष्ण की लीलाओं के साथ ही भरत नाट्यम की पारंपरिक बंदिशों को देखना एक रोचक अनुभव रहा. वरिष्ठ नृत्यांगना भारती होम्बल के निर्देशन में करीब दो दर्जन शिष्याओं ने बारह विविध रचनाओं में अपनी भागीदारी दर्ज की।

पिछले साठ बरसों से भोपाल में संचालित 'कलापथ' के इस सालाना जलसे की शुरुआत प्रथम पूज्य श्री गणेश की वंदना से हुई। सुरभि भारती, नीरजा सक्सेना, रूपल गीते और तृषा कौशिक की इस सामूहिक वंदना के बाद नटराज पुष्पांजलि और गुरु वंदना में आस्था के भाव प्रकट हुए. देवों की महिमा के बाद 'अलारिपु' में नृत्यांगना की साधना का अंदरूनी सौन्दर्य राग मालकौंस रूपक ताल की बेहद सधी हुई रचना में खिल उठा। अलारिपू का शाब्दिक अर्थ खिला हुआ फूल है और सुंदर-महकते फूल की तरह नृत्य का सवरूप भी निखर उठता है। इस समूह रचना में भारती, अदिति, हिमिका, श्वेता, गौरी, मिताली, तनुश्री, अपूरवा, श्रेया, आर कीर्तिका तथा भव्या शामिल रहीं। एक अन्य पारम्परिक बंदिश 'जतिस्वरम' में राग-ताल की लयबद्ध लड़ियों से संगत बैठाती पांच नृत्यांगनाओं की ऊर्जा राग मलिका और ताल मिश्र चापु के साथ निखर उठी. इस बीच कलाधर कृष्ण की छवियाँ भी साकार हुईं जिनमें कान्हा की मनुहार करती गोपियाँ और माधव के विरह में व्याकुल एक बांवरी का चित्रण हदय स्पर्शी था। उधर शिव के आनंद तांडव और राम की महिमा का बखान भक्ति के शिखर पर ले गया। विनय उपाध्याय के सुरुचिपूर्ण संचालन में सम्पन्न लगभग डेढ़ घंटे की इस श्रृंखलाबद्ध नृत्यमंजरी में माधुरी वझे, सजनी कुमारन, शिवांगी, राशी, जूही, मेधा, आरती, समीक्षा, रोहिणी आदि ने भी हिस्सा लिया। गायन में भारती होम्बल, मृदंगम पर सी के रमण और बांसुरी पर वीरेंद्र कोरे ने बेहतर संगत की। इस अवसर पर वरिष्ठ संगीतकार सिद्धराम स्वामी कोरवार और ध्रुपद गायक गुंदेचा उमाकांत अतिथि बतौर उपस्थित थे।

कहानी पाठ : भालचंद्र जोशी (खरगोन, म.प्र.)

बात पर बात सिनेमा की

सिने लेखिका भावना सोमाया से राखी झँवर का संवाद

''फिल्म निर्माता एवं अभिनेताओं से बात करने का मूड और माहौल होता है। ऐसा नहीं है कि कभी भी और कहीं भी उनसे बात की जा सकती है। कुछ कलाकार तो ऐसे भी हैं जिनसे टाइम लेना ही मुश्किल होता है। मेरी आने वाली किताब सिनेमा के सौ साल पूरे होने पर मेरा एक मेजर कॉन्ट्रीब्यूशन है। यह मेरी १२वीं किताब है और इसमें मैंने सिनेमा में योगदान देने वाले हर महत्वपूर्ण शख्स को शामिल करने की कोशिश की है। हर साल मेरी एक किताब प्रकाशित हो मेरी इस ख्वाहिश की पूरी होती एक मिसाल है यह पेशकश।''

जानी-मानी सिने लेखिका और समीक्षक भावना सोमाया इस सूचना के साथ गर्व भी व्यक्त करती हैं। अंतर्राष्ट्रीय जनजातीय फिल्म फेस्टिवल में शामिल होने भोपाल आईं भावना से सिनेमा और उनकी आने वाली नई किताब के पहलुओं पर *रंग संवाद* के लिए बहुत सारी बातें हुईं।

किताब 'टॉकिंग सिनेमा' चार भाग में है। पहला भाग है- एन एक्टर प्रिपेयर्स। मैंने कई एक्टर्स से बात की और जाना कि वो अपनी भूमिका के लिए खुद को कैसे तैयार करते हैं। जब कलाकारों से बात की तो पता चला कि वो अपने किरदार को लेकर बहुत नर्वस होते हैं। इस बारे में जब मैंने अमिताभ बच्चन से कहा कि आप तो कैमरे के सामने बिल्कुल भी नर्वस नहीं दिखते और स्क्रीन पर तो आप एकदम परफेक्ट होते हैं। उन्होंने कहा कि नर्वसनेस तो अंदर होती है, उसे कैमरे के सामने कैसे दिखा सकते हैं? इसी तरह जब रानी मुखर्जी से बात की तो उन्होंने बताया कि फिल्म 'युवा' का क्लाइमेक्स शॉट सुबह 4 बजे शूट होना था और उन्हें नींद आ रही थी। इसी कारण वो ज्यादा नर्वस थीं। फटाफट शॉट देकर दोबारा सो जाना चाहती थीं। इसी तरह अनिल कपूर, माधुरी दीक्षित, शाहरुख खान आदि ने शॉट देते समय अपनी-अपनी तैयारी और भीतर के नर्वस फील की कहानी बताई।

किताब का दूसरा भाग है- कैरेक्टर स्कैच। इसमें मैंने बताया है कि एक कलाकार एक खास किस्म के किरदार के लिए कैसे काम करता है। रोल कलाकार को ध्यान रखकर लिखा जाता है। मैंने इस विषय पर जो भी रिसर्च की उससे पता चला कि हर किरदार, हर कोई नहीं निभा सकता। किरदार पर तो कलाकार का नाम लिखा होता है। डायरेक्टर यह जानते हैं कि कौन सा रोल किस कलाकार से कराया जाना चाहिए। डायरेक्टर यह देखता है कि संबंधित रोल के लिए एक्टर की मानसिक स्थिति कैसी है?

किताब का तीसरा भाग है- डायरेक्टर कट। मैंने जाना कि डायरेक्टर्स पर बहुत ज़्यादा प्रेशर होता है। लेकिन वो इतने ज्यादा दबाव में भी कलाकार को एक पिता की तरह ट्रीट करते हैं। इस बात का ध्यान रखते हैं कि मेरा एक्टर ठीक है या नहीं। उसने रोल के लिए कितनी तैयारी कर रखी है। उसे कोई कन्फ्यूज़न तो नहीं है। मैंने गुलजार, मणिरत्नम, शेखर कपूर, विशाल भारद्वाज, करण जौहर से बात की है। इन सबसे बात करने के लिए मुझे बहुत मशक्कत करनी पड़ी। मणिरत्नम एक अलग मूड के निर्देशक हैं। वहीं संजय लीला भंसाली बहुत ही अलग अंदाज़ में बात करते हैं। भंसाली से बात करने के लिए मुझे लंबा इंतजार करना पड़ा। उनसे टाइम मिलना मुश्किल हो रहा था, लेकिन जब मिले तो उन्होंने मुझे बहुत प्रभावित किया। म्यूजिक डायरेक्टर ए.आर. रहमान एक ऐसे शख्स हैं जिसे पकड़ना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन है, लेकिन इनसे भी बात करने का मुझे मौका मिला। एक बार मैं एक अवार्ड फंक्शन में निर्देशक सुभाष घई से बात कर रही थी, मैंने देखा कि रहमान भी वहाँ आये हैं। कार्यक्रम शुरू होने में समय था। सुभाष जी ने मुझे रहमान से मिलवाया। मैंने दिल ही दिल में सोचा कि रहमान से मिलने की मुराद पूरी हो गई। मुझे लगा कि मेरे पास बहुत कम समय है और इस समय का मुझे उपयोग करना है। मैंने बिना समय बर्बाद किए उनसे सवाल करना शुरू कर दिया, जबकि उस समय मेरे पास न तो पेन था और न ही पैड। फिर भी मैं उनसे सवाल पूछती गई और वे मुझे जवाब देते गए। इस तरह मेरा इंटरव्यू पूरा हुआ। यह मुलाकात बहुत ही खास रही।

फिल्म समीक्षक भावना सोमाया

इस किताब का अंतिम भाग- स्पेशलिस्ट है। यह हिस्सा मेरे लिए भी बहुत स्पेशल है। कुछ अलग ही बातें यहाँ निकलकर सामने आईं। इसमें मैंने बताया है कि कौन सा एक्टर किस किरदार में माहिर होता है। डायरेक्टर भी देखता है कि अगर पुलिस वाले का रोल है तो उसमें कौन फिट बैठेगा। अमिताभ बच्चन लगभग 15 फिल्मों में पुलिस बने हैं। इन फिल्मों में वे पुलिस के साथ ही एक प्रेमी भी दिखाए गए। उन्होंने हीरोइन के साथ गाने भी गाये, तो खलनायकों की पिटाई भी की। मैंने जब इस बारे में अमिताभ जी से पूछा तो उन्होंने कहा कि डायरेक्टर को मैं पुलिस वाले के रोल में शायद ज्यादा पसंद आता हूँ। श्याम बेनेगल ने हमेशा ही महिलाओं पर केंद्रित फिल्में बनाई हैं। उन्हें महिलाओं पर

फोकस फिल्में ज्यादा पसंद हैं। फिल्मों में अक्सर तवायफ और कोठे के दृश्य होते हैं। मैंने जितने भी निर्देशकों से बात की कि तवायफ के रोल के लिए उनकी पहली पसंद कौन है, तो लगभग सभी ने रेखा का ही नाम लिया। रेखा से मिली तो उन्होंने बताया कि उन्हें भी यह रोल अच्छा लगता है। रोल से संबंधित छोटी-छोटी बातें उन्होंने मुझसे शेयर कीं। बताया कि 'उमराव जान' के गाने 'इन आँखों की मस्ती...' के लिए डायरेक्टर ने कुछ अलग ही अंदाज में सेट को तैयार करवाया था। इस शॉट के लिए असल ज़िंदगी के नवाबों को बैठने के लिए बुलाया गया था और सभी ने असल के हीरे-जवाहरात के गहने पहने थे। इसी फिल्म के एक और गाने का अनुभव बताते हुए रेखा ने कहा कि 'ये क्या जगह है...'गाना शूट करते समय इतनी ज्यादा ठंड थी कि उनकी आँखों में डाला ग्रीसलीन बार-बार सूख रहा था। इसके लिए डायरेक्टर को बड़ी मशक्कत करनी पड़ी और रेखा भी चाहती थीं कि शॉट जल्दी से ओके हो ताकि उन्हें भी ठंड से निजात मिले।

कई लोगों ने मुझसे पूछा कि इस किताब में रणवीर कपूर, अनुष्का शर्मा, दीपिका पादुकोण और बहुत से कलाकार क्यों नहीं हैं? मैंने इसका जवाब दिया कि इस तरह की किताब में आने के लिए उन्हें अभी बहुत वक्त लगेगा। इसमें फिलहाल उनके माता-पिता हैं तो उनके लिए अभी इसमें जगह नहीं है। अभी उन्हें जीवन में बहुत संघर्ष करना है। उन्हें ऐसे किरदारों को जीना है जिन्हें उनके माँ-बाप ने जिया है। यह किताब हारपर कोलाइन्स पब्लिशर मुंबई ने प्रकाशित की है, तीन सौ चार पृष्ठों में सारा विवरण फैला है। कीमत है- 299 रुपए।

मणिरत्नम एक अलग मूड के निर्देशक हैं। वहीं संजय लीला भंसाली बहुत ही अलग अंदाज़ में बात करते हैं। भंसाली से बात करने के लिए मुझे लंबा इंतजार करना पड़ा। उनसे समय मिलना मुश्किल हो रहा था, लेकिन जब मिले तो उन्होंने मुझे बहुत प्रभावित किया। म्यूजिक डायरेक्टर ए.आर. रहमान एक ऐसे शख्स हैं जिन्हें पकड़ना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन है।

मैं कलाकारों से वो पूछती हूँ जो मेरे दिल में होता है। कलाकार भी मुझ पर विश्वास करते हैं। मैं अपने हिसाब से काम करती हूँ किसी के कहने पर नहीं चलती। एक बार मैं अमिताभ जी का इंटरव्यू कर रही थी तो मैंने उन्हें एक सवाल के जवाब पर टोका भी। मैंने कहा कि पहले आपने ऐसा कहा और अब उसी बात से मुकर रहे हैं। अमिताभ जी से इस तरह के तर्क करने का मतलब यह नहीं है कि वो मुझसे आगे कभी बात ही नहीं करेंगे। काम करने का मेरा अपना एक तरीका है। मुझे इंटरव्यू के दौरान 'मसाला सवाल' पसंद नहीं। मेरे करियर के शुरुआती दौर में जब मेरे एडिटर मुझे कुछ इसी तरह के सवाल करने के लिए कहते थे तो मैं उन्हें भी मना कर देती थी। जो सवाल मुझे पसंद हैं, मैं वो ही सवाल कलाकारों से करती हूँ। मैं किसी बात पर समझौता नहीं करती। कलाकार मुझ पर विश्वास रखते हैं, इसलिए मैं उनसे सहजता से मिल पाती हूँ। मैंने देखा कि मीडिया मीट के दौरान पत्रकार छिछोरे सवाल भी करते हैं, लेकिन इसमें पत्रकारों की भी गलती नहीं है। उनसे डिमांड की जाती है।

हेमा ने किताब नहीं पढ़ी... बच्चन से असहमतियाँ

मैंने हेमा मालिनी की बायोग्राफी लिखी। इसके लिए मैंने हेमा के साथ बहुत समय बिताया। जब किताब पूरी हो गई तो मैंने हेमा को किताब दिखाई ताकि इसमें कोई गलती हो तो उसे सुधार लें। किताब की सारी प्रूफ मिस्टेक्स सुधारी, उसके बाद पब्लिश करने के लिए दी। किताब छपकर आई तो मैंने एक प्रति हेमा को दी। उन्होंने किताब लेकर रख ली और उसे एक महीने तक खोलकर नहीं देखा। जब मैंने पूछा तो उन्होंने कहा कि मुझे डर लग रहा है, कहीं कोई गड़बड़ न हो। फिर मैंने ही हिम्मत दिखाकर वो किताब पढ़ी और हेमा को बताया कि आप भी किताब पढ़ लें, कोई गलती नहीं है। तब कहीं जाकर उन्होंने किताब पढ़ी। इसी तरह मैंने अमिताभ बच्चन पर भी दो किताबें लिखी हैं- अमिताभ बच्चन : द लीजेंड और बच्चनालिया। इन दोनों ही पुस्तकों के लिए अमितजी के साथ मैंने बहुत समय गुजारा। कभी-कभी हम एक-दूसरे की बात पर सहमत भी नहीं होते थे, तो कभी तर्क-वितर्क भी हमारे बीच हुए। इसका मतलब यह नहीं है कि उन्होंने मुझसे बात करना या इंटरव्यू देना बंद कर दिया, बल्कि हर बार एक नए जोश के साथ बातचीत शुरू करते थे।

...और अब 'कृष्णा'

मेरी बारह किताबों में से सिर्फ एक किताब ऐसी है जो सिनेमा पर नहीं है। यह किताब है- कृष्णा। इसे लिखते समय मुझे लगा कि मेरे दिल और दिमाग में सिर्फ कान्हा ही बसे हुए हैं। इसमें मैंने कई मार्मिक दृश्यों का भी वर्णन किया है। एक वाक्या है कि जब कान्हा के पैर में तीर लग जाता है और उसे वो निकाल नहीं पाते, तो उस दौरान वो अपनी पत्नी रुक्मणी और प्रेयसी राधा को याद करते हैं कि काश, वो यहाँ उनके पास होती! वैसे मैंने कभी सोचा नहीं था कि मैं कान्हा पर भी कुछ लिखूँगी। जब यह विचार मेरे मन में आया तो अचानक ही कान्हा मेरे मन में समा गए। आगे का तो मैंने सोचा नहीं है। लेकिन जब भी कान्हाजी चाहेंगे, उन पर और लेखन करूंगी।

ज़िंदगी में संघर्ष बहुत ज्यादा है और ऐसा भी नहीं है कि सिर्फ कलाकारों की ज़िंदगी में ही संघर्ष है। आज की इस भागदौड़ भरी जिंदगी में लोग डिप्रेशन में जा रहे हैं। एक समय था कि सिर्फ किसान ही फसल की बर्बादी और कर्ज के बोझ के कारण आत्महत्या कर रहे थे, लेकिन अब तो हर वर्ग का व्यक्ति आत्महत्या कर रहा है, चाहे वो अमीर हो या गरीब। लोगों की महत्वाकांक्षाएं बढ़ गई हैं। जब सपने पूरे नहीं होते तो लोग आत्महत्या जैसा कदम उठा लेते हैं। अभिनेत्री ज़िया खान ने एम्बीशन के लिए आत्महत्या की है, यह मैं नहीं मानती। उसकी आत्महत्या के पीछे भी कई कारण हैं। अब तो अखबारों में भी खबरें आ रही हैं और धीरे-धीरे सही बात का पता चल रहा है। यह जो भी हुआ बहुत दुखदायी है। छोटी-सी उम्र में इस तरह कदम उठाना गलता है। मेरा मानना है कि जीवन में संघर्ष करना चाहिए और हारना नहीं चाहिए। आत्महत्या करना किसी भी समस्या का समाधान नहीं है। एक ही राह पर मत चलो। करियर के लिए बहुत से विकल्प होते हैं, उन पर भी हमें नज़र रखना चाहिए।

छवि के छोर

व्यावसायिक फिल्मों में चुरा कर पर्दे पर लाने वाली कहानियों के निर्देशकों को यह फिल्म संदेश देती है कि किसी विषय का अनुकूलन (एडॉप्टेशन) ऐसे भी होता है और एक विधा से दूसरी विधा में ट्रांसक्रियेशन को इस तरह भी होना चाहिए।

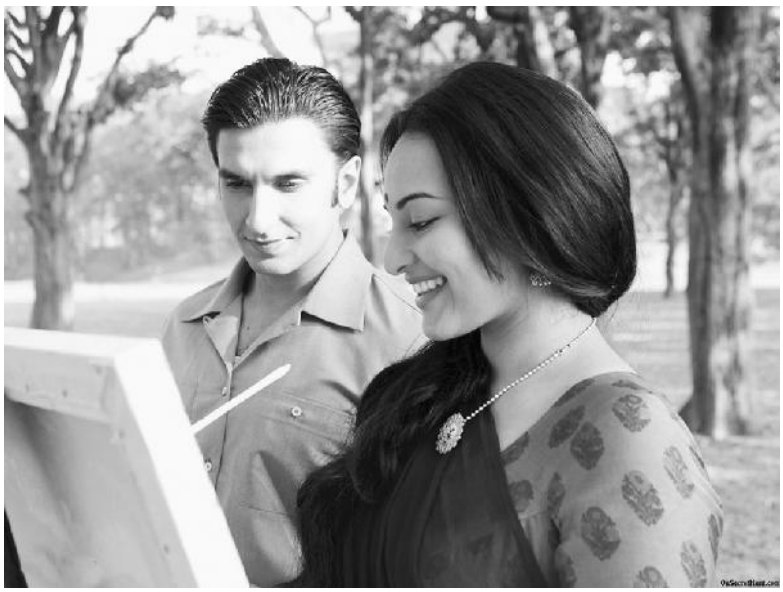

'लुटेरा' की नफासत

रामप्रकाश त्रिपाठी

'लास्टलीफ' और 'मास्टर पीस' नाम से छपी ओ हेनरी की यह कहानी हालाकि बहुत छोटी है। इसे लघु कथा की श्रेणी में ही रखा जा सकता है। देखना दिलचस्प था कि उसे निर्देशक ने केनवास पर कैसे फैलाया है। 'लुटेरा' देखने जाते वक्त न तो मैंने विक्रमादित्य मोटवानी का नाम सुना था और न उसके संगीतकार का। रणबीर सिंह और सोनाक्षी सिन्हा के प्रति मेरा कोई आकर्षण नहीं था। रणबीर की एक्टिंग मैंने देखी नहीं थी और जिन फिल्मों में सोनाक्षी को देखना पड़ा उनमें वे बहुत प्रतिभा सम्पन्न नजर नहीं आयीं, अलबत्ता चूंकि ये जीरो फिगर या बोनब्यूटी के खांचों के विपरीत भारतीय सौंदर्य के प्रतिमानों के करीब हैं इसलिए सुन्दर जरूर लगीं।

इस पृष्ठभूमि के साथ पॉपकॉर्न का बड़ा-सा पेपर जार लेकर हम थियेटर में घुसे। जब मध्यांतर हुआ तो पता चला कि पॉपकॉर्न खाना तो भूल ही गये थे। फिल्म मंथर गति और विश्वसनीय ढंग से आगे बढ़ती है। कथा और पटकथा में ओ हेनरी की कहानी की आत्मा तो है लेकिन वह कहानी भारतीय समाज को परिलक्षित करके भारतीय दर्शक की मनोभूमि के हिसाब से गढ़ी गयी है। पटकथा चुस्त-दुरुस्त है। हेनरी की कहानी में एक बूढ़ा बीमार कुंठित-असफल और लिकर एडिक्ट कलाकार है जिसका न तो सामाजिक सम्मान है और न ही उसे कोई मास्टर पीस पेण्टर मानता है। जिस अपार्टमेंट में कलाकार रहता है उसकी ऊपरी मंजिल पर एक लड़की रहती है। सुन्दर, दुबली और बीमार। उसकी खिड़की के सामने मकान के ऊपर एक बेल चढ़ी है जिसके पत्ते मौसम की मार से धीरे-धीरे झड़ रहे हैं। वह उन्हें झड़ते देखती है और उसकी बीमार मानसिकता पर यह दुश्चिंता काबिज हो जाती है कि जिस दिन इस लता की आखरी पत्ती झड़ जायेगी, उसके जीवन का भी अंत हो जायेगा।

कलाकार को लड़की अच्छी लगती है। वह खुद ज्वरग्रस्त हो जाता है और लड़की को देखने नहीं जा पाता। वह शाम अंधड़ और बारिश से भरी है। जब वह देखता है कि लता पर केवल एक जीर्ण-सी पत्ती बाकी है, जो इस तूफान को झेल नहीं पायेगी तो वह भारी बर्फानी बारिश के बावजूद सीढ़ी पर चढ़कर दीवार पर ऐसी पत्ती पेंट करता है जो खिड़की से देखने पर बिल्कुल असली लगती थी। अंधड़ भरी रात गुजर गयी। सुबह चमकीली थी। लड़की ने खिड़की खोली तो बेल पर नयी पत्ती देख कर उत्साह और जिजीविषा से लबरेज हो गयी। उधर इस जीवनदायी मास्टरपीस कृति का सर्जक कलाकार दुनिया से कूच कर गया। अपनी सर्वोत्तम कृति रच कर।

लुटेरा की कहानी ठीक यही नहीं है। इस भाव-भूमि पर सिनोमेटिक रचना भारतीय संदर्भ और मनोविज्ञान के हिसाब से की गयी है। मुख्तसर यह कि जमींदारी प्रथा अपने अंतिम चरण में है। देश आज़ाद हो चुका है। जमींदार अपने को असहाय, पस्त और अधिकारहीन अनुभव कर रहे हैं। कुछेक सामंती मूल्यों को लेकर जी रहे हैं। कोलकाता की पृष्ठभूमि में नायिका का परिवार ऐसा ही है। प्राचीन वैभव को निर्देशक ने लुटेरा में उसी कुशलता और शालीनता से फिल्माया है, जैसे कि 'साहब, बीबी और गुलाम' में फिल्माया गया था। वहाँ भी उत्खनन था और यहाँ भी। मगर फर्क है। यहाँ रणवीर सिंह और उसका साथी पुरातत्व सर्वेक्षण के नाम पर आते हैं और हवेली के पास पुरातात्विक महत्व की संपदा के लिए खुदाई की इजाजत मांगते हैं। दरअसल ये चोर हैं जो ऐतिहासिक, एथनिक और पुरातात्विक महत्व की चीज़ें चुरा कर स्मगलरों को सौंप देते हैं। ज़मींदार और उनके परिवार का दिल जीतने की कोशिश में उसकी मुलाकात पाँखी (सोनाक्षी) से हो जाती है। नागार्जुन की कविता 'अकाल और उसके बाद' उनमें अध्ययन कक्ष के अंदर प्रेमांकुरण का काम करती है। पाँखी कला-व्यसनी है और लेखिका बनने की धुन उसे सवार है। रणवीर अपने कक्ष में ईजल पर केनवास लगाता है। यह चीज़ पाँखी से उसकी मुलाकात का बहाना बनती है। वह रणवीर को कलाकार समझती है और उससे पेंटिंग सीखना चाहती है पर रणवीर ब्लेंक है। उसे पेंटिंग नहीं आती। वह अनगढ़ और बच्चों का सा

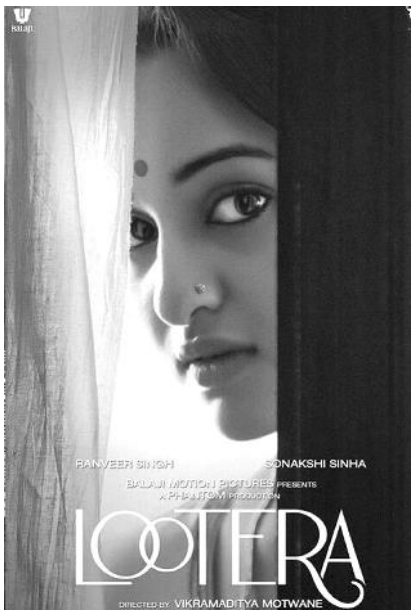

कथा और पटकथा में ओ हेनरी की कहानी की आत्मा तो है लेकिन वह कहानी भारतीय समाज को परिलक्षित करके भारतीय दर्शक की मनोभूमि के हिसाब से गढ़ी गयी है। पटकथा चुस्त-दुरुस्त है। हेनरी की कहानी में एक बूढ़ा बीमार कुंठित-असफल और लिकर एडिक्ट कलाकार है जिसका न तो सामाजिक सम्मान है और न ही उसे कोई मास्टर पीस पेण्टर मानता है। जिस अपार्टमेंट में कलाकार रहता है उसकी ऊपरी मंजिल पर एक लड़की रहती है। सुन्दर, दुबली और बीमार। उसकी खिड़की के सामने मकान के ऊपर एक बेल चढ़ी है जिसके पत्ते मौसम की मार से धीरे-धीरे झड़ रहे हैं।

लेण्डस्केप बनाता है। पाँखी उसे पत्ती बनाने को कहती है- तो वह नहीं बना पाता। पाँखी से पत्ती का सुगढ़ आकार बनाना सिखाती है। इस तरह दोनों में प्रेम का पल्लवन होता है। इस बीच रणवीर और उसके साथी खुदाई के नाम पर बनाई गई सुरंग में खानदानी राधाकृष्ण की मूर्ति की रिप्लिका तैयार करते हैं और उसे मूर्ति की जगह लगा देते हैं। रिप्लिका इतनी सजीव है कि घरवाले और पूजा के लिए आने वाले पंडित भी उसे नहीं पहचान पाते। रणवीर इसी बीच पाँखी के पिता को अपने से पाँखी से शादी के लिए राजी कर लेता है। मूर्ति विस्थापन के दिन ही उसकी सगाई होने वाली है। उसकी पूर्व संध्या आकर उसे बताता है कि वैवाहिक जीवन संभव नहीं है क्योंकि धंधा ही ऐसा है। रणवीर आसन्न खतरे को भाँप कर फरार हो जाता है। सगाई के लिए सजी प्रिया पर वज्राघात ऐतिहासिक मूर्ति गायब। दुग्धाभिषेक के समय मूर्ति की रिप्लिका गल जाती है। इस सब के बाद भी, जबकि जमींदारी छिनने और विश्वासघाती आघात से जमींदार की मृत्यु होने के बाद भग्नहृदया नायिका डलहौजी के एकांत में जा बसी और नायक आपराधिक गतिविधियों में और ज्यादा क्रूर और हिंसक हो गया प्रेम का जो अंकुर उगा था वह मरता नहीं। दोनों के चरित्रों में परिवर्तन जरूर आता है। नायिका में प्रेम और प्रतिरोध एक साथ नज़र आते हैं। नायक में पलायन और पश्चाताप। इन विरोधी भाव धाराओं ने फिल्म में ऐसा द्वंद्व पैदा किया कि फिल्म व्याख्यान का प्रतिरूप नजर आने लगी। कैमरा मैन ने ऐसी दृश्यावलियों को ऐसे-ऐसे कोणों से प्रस्तुत किया कि फिल्म विविधवर्णी कैनवासों का आभास देने लगी।

फिल्म में संवाद से ज्यादा उसकी खामोशी बोलती है, पॉज उसमें दर्शकों के लिए प्रेय अर्थ भरते हैं। संयोग से या दुर्योग से रणवीर और उसका चोर साथी डलहौजी पहुँचते हैं जहाँ उन पर पुलिस का शिकंजा कसता जाता है। एनकाउंटर के जीवंत दृश्य भी विश्वसनीयता से फिल्माये जाते हैं। साथी मर जाता है। रणवीर घायल होकर पाँखी (सोनाक्षी) के पास पहुँचता है। वह उसे पुलिस के हवाले करने का सोचती है लेकिन करती नहीं। पाँखी बहुत कमजोर और बीमार है। दवा नहीं लेना चाहती। रणवीर जबरन उसे इंजेक्शन देता है। सेवाटहल करता है, मगर पाँखी का पुनः विश्वास अर्जित नहीं कर पाता। पुलिस जब दबिश देती है तो पाँखी रणवीर को बचा लेती है, लेकिन उसकी घृणा कम नहीं होती। पुलिस उसका घर घेर लेती है।

घर के पीछे के कोर्ट यार्ड में एक वृक्ष है। बर्फवारी से उसके पत्ते झड़ रहे हैं। पाँखी सोचती है जब वृक्ष पत्रहीन हो जायेगा, उसका शरीर भी प्राणहीन हो जायेगा। रणवीर इंजेक्शन के प्रभाव में सोयी पाँखी को छोड़कर उस बर्फानी रात में लकड़ी लेकर एक पत्ता लकड़ी छीलकर बनाता है। उसे रँग कर पेड़ की ऊंची फुनगी पर बाँध देता है। यह दृश्य बड़ा दारुण है। एनकाउंटर में घायल रणवीर के घाव से खून रिसता है मगर वह उस मास्टरपीस दृश्य को रचने से पीछे नहीं हटता। अंततः वह सफल हो जाता है। जब यह सब करके जाने लगता है तो पुलिस उसे मार गिराती है।

उधर किंचित स्वस्थ और प्रकृतिस्थ हुई पाँखी ओ हेनरी की चमकीली धूप में घर से निकलकर उस पेड़ के पास आती है। समझ जाती है कि यह पत्ता उसके खोये विश्वास को लौटाने के लिए है। वह दिनों बाद हँस पड़ती है।

बेशक निर्देशक विक्रमादित्य मोटवानी स्वयं को प्रयोजनशील फिल्मकार के रूप में पेश करते हैं। फिल्म में वे चट्टान पर दूब उगाने का जटिल कार्य ओ हेनरी की कुशलता के अन करीब पहुँच कर करते हैं। वे युवा-कलाकारों पर यकीन जताते हैं और सोनाक्षी तक से बहुत अच्छा नहीं तो कम से कम अब तक की उसकी सारी फिल्मों से अच्छा अभिनय तो करा ही ले जाते हैं। वे जमींदारी उन्मूलन, नागार्जुन की कविता और ओ हेनरी के एक साथ चयन से सिद्ध करते हैं कि नयी पीढ़ी न कल्पना शून्य है, न विचारधारा निरपेक्ष। वह संवेदी है।

इसके बावजूद सिनेमा में बैठे युवाओं की प्रतिक्रियाओं से निराशा ही होती है जो दुर्भाग्य से फूहड़ सीरियल्स और बाजारू फिल्मों के एडिक्ट हो चुके हैं। बहरहाल व्यावसायिक फिल्मों में चुरा कर पर्दे पर लाने वाली कहानियों के निर्देशकों को यह फिल्म एक संदेश देती है कि किसी विषय का अनुकूलन (एडॉप्टेशन) ऐसे भी होता है और एक विधा से दूसरी विधा में ट्रांसक्रियेशन को इस तरह होना चाहिए।

ज़मींदार के किरदार को निभाने वाले अभिनेता और नौकरानी का किरदार निभाती दिव्या दत्ता बहुत सीमित अवसरों के बावजूद प्रभावित करते हैं। फिल्म अवश्य दर्शनीय है। लुटेरा जैसे भ्रामक नाम के बावजूद, उम्मीद है दर्शक उसे मिल जाएंगे।

* सृजन के आसपास *

'गाया तो दर्द गाया'

अर्चन ने थामा गीतों का परचम

धूप-छाहीं जीवन की बेशुमार अनुभूतियों को अपने गीतों में गाते-गुनगुनाते जाने-माने कवि शिव कुमार अर्चन भोपाल की अरेरा कॉलोनी स्थित वनमाली सृजन पीठ के 'पाठ प्रसंग' में शरीक हुए। अपनी लेखनी का मर्म उजागर करते हुए उन्होंने कहा- जब भी कुछ गाया, गाया तो दर्द गाया।

प्रेम, प्रकृति और अपने समय से गुफ्तगू करते अर्चन के गीतों में इंसानी दुनिया की अनेक जानी-अनजानी छबियाँ उभर कर सामने आयीं। बतौर अध्यक्ष पाठ प्रसंग में उपस्थित वरिष्ठ चिन्तक डॉ. सेवाराम त्रिपाठी ने अपने उद्‌बोधन में शिव कुमार अर्चन को प्रयोगधर्मी गीतकार बताया। कार्यक्रम के समन्वयक कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने शुरू में अर्चन की रचना यात्रा पर प्रकाश डालते हुए कहा कि हिन्दी के समकालीन छंद-कवियों में शिव कुमार अनेक संकीर्णताओं से बाहर निकलकर अपनी नयी शैली और प्रभाव के साथ पाठक, श्रोताओं से रिश्ता बनाने में सफल रहे हैं।

करीब चार दशकों से देश के अनेक मंचों पर अपने पुरकशिश गीतों की गुंजार बिखेरने वाले अर्जन जी को रु-ब-रु सुनने की गरज राजधानी की साहित्य बिरादरी को वनमाली परिसर में खींच लायी। पाठ की भावपूर्ण शैली और कंठ की मधुरता का संगम शिव के गीतों की लड़ियों को नया लालित्य देता रहा। उनकी गीत श्रृंखला में प्रेम और श्रृंगार कुछ इस तरह फूटा- ''तुमने जो अधरों से छुआ, पोर-पोर बांसुरी हुआ''। मौजूदा हालातों पर कटाक्ष करती इन पंक्तियों पर उन्हें भरपूर दाद मिली। ''यक्ष प्रश्नों के नहीं उत्तर, युधिष्ठिर का शीश नत है'' लगभग एक घंटे के धारा प्रवाह गीत पाठ के दौरान अर्चन ने रचनाओं की पृष्ठभूमि से श्रोताओं को अवगत कराते हुए कहा कि गीत जीवन की आदिम लय है और मैंने हमेशा इसी लय को अपने छंदों में पिरोने की पहल की है। कहा कि मेरी अभिव्यक्ति छन्द में ही सच्चा आकार लेती है। मेरी कोशिश रही है कि अपने बहाने सारे जग को गाऊँ।

व्यंग्य का अंतिम लक्ष्य करुणा हो!

'जीवन के हर छोर को व्यंग्यात्मक तर्ज़ से देखेंगे तो हमारे पास रहने-टिकने की जगह कहाँ रह जाएगी! बिडम्बनाओं के बीच रहना ही है तो हमारे कुछ स्पेस होना चाहिए। व्यंग्य का अंतिम लक्ष्य करुणा होना चाहिए।'

प्रख्यात व्यंग्यकार स्व शरद जोशी की साधना स्थली से चंद फासले पर स्थित भोपाल के दुष्यंत कुमार पांडुलिपि संग्रहालय में यह बात सुपिरचित कवि-कथाकार संतोष चौबे ने मध्यप्रदेश की गौरवशाली व्यंग्य परम्परा की स्थानीयता का हवाला देते हुए कही। चर्चित व्यंग्यकार सुशील सिद्धार्थ की किताब 'नारद की चिंता' पर आयोजित विचार गोष्ठी में बतौर अध्यक्ष श्री चौबे ने व्यंग्य विधा के कई पहलुओं पर रौशनी डाली। सिद्धार्थ के व्यंग्य कर्म को लेकर उन्होंने कहा कि भाषा तिर्यक की खूबी सिद्धार्थ को अलहदा बनाती है। भाषा का तनाव यहाँ बहुत उपयोगी सिद्ध होता है और भाषा के दिलचस्प रंग दिखाई देते हैं। साहित्य और मीडिया के प्रपंच को बहुत बेबाकी से उजागर करती इन रचनाओं में भारतीय परम्परा की रचनात्मक शैली शिद्दत से नजर आती है।

'नारद की चिंता' पर हुआ विमर्श

कथाकार मुकेश वर्मा ने आधार वक्तव्य देते हुए सिद्धार्थ के व्यंग्यों को इस मायने में महत्वपूर्ण बताया कि वहाँ विषयों को लेकर काफी सतर्कता बरती गई है और सजगतापूर्वक फूहड़ताओं से बचाया गया है। अद्‌भुत भाषा कौशल तथा शब्द प्रवाह पाठक को बांधे रखता है। उन्होंने कहा कि सुशील धीरज के साथ अपनी कलम को साधने वाले ऐसे व्यंग्यकार हैं जिन्हें रुचि लेकर पाठक पढ़ते ही नहीं एक सार्थक विमर्श में शामिल भी होते हैं। स्पंदन, वनमाली सृजन पीठ तथा पहले पहल द्वारा संयोजित इस कार्यक्रम में सुशील ने चुनिंदा रचनाओं का पाठ किया। कथाकार स्वाति तिवारी तथा कवियित्री प्रज्ञा रावत ने अतिथियों का स्वागत किया। **-वसंत सकरगाए**

एक तुम ही हो ध्यानाधार...

'कथक केंद्र' भोपाल में प्रशिक्षित नृत्यांगना विजया शर्मा ने विगत दिनों बाबा गोरखनाथ की धरती पर अपने कथक-बैले 'राम की शक्ति पूजा' प्रस्तुति की। आयोजन दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय के स्थापना दिवस के अवसर पर अखिल भारतीय कुलपति सम्मेलन के तहत हुआ। देश भर के विश्वविद्यालयों से पधारे कुलगुरुओं तथा शिक्षाविदों ने विजया शर्मा और उनके समूह के उत्कृष्ट नृत्य-संगीत-काव्य प्रस्तुति की सराहना की। प्रस्तुति का एक खास पहलु नृत्य के मंगलाचरण में शिव स्तुति के साथ वरिष्ठ प्रसासनिक अधिकारी और कवि साहित्यकार मनोज श्रीवास्तव की कविता-एक तुम ही हो ध्यानाधार पर भावपूर्ण नृत्य बना। बनारस घराने के युवा सरोद वादक अंशुमन महाराज, हारमोनियम वादक-गायक प्रवीण मिश्रा और लखनऊ घराने के तबलावादक विकास मिश्रा ने सुंदर संगत-पढंत आदि से कथक के वैभव को अनूठी ऊंचाई दी। वहीं राजकुमारी शर्मा का गायन और महाप्राण निराला की कालजयी रचना का विवेक मृदुल का सम्पूर्ण नाट्य आवेगों के साथ पाठ विजया शर्मा की ''राम की शक्ति पूजा'' को यादगार और राममय बना गया... नृत्य का प्रारंभ संध्याकालीन राग यमन के स्वरों पर शिव स्तुति के साथ हआ। इसके बाद राग गोरख कल्याण में निबद्ध मनोज श्रीवास्तव की कवता-एक तुम ही हो ध्यानाधार पर जैसे ही विजया शर्मा की सुयोग्य शिष्याओं ने पद विन्यास लेते हुये विविध शिव रूपों को उजागर किया दर्शक भाव विभोर हो गये।

इसके बाद विजया ने अपने रायगढ़ घराने के शास्त्रीय वैभव की बानगी देते हुए शुद्ध नृत्य प्रस्तुत किया जिसके तहत आमद, तोड़े, टुकड़े, परन, गत निकास, तत्कार और तबला-घुंघरू जुगलबंदी की आकर्षक प्रस्तुति दी। कुछ परनों में तबला वादक विकास मिश्रा की पढंत और तबले की जोरदार थापों ने रसिकों को उनके सम पर आते ही तालियाँ बजाने को मजबूर कर दिया।

इसके बाद मूल रचना-राम की शक्ति पूजा की प्रस्तुति हुई...। प्रवीण के धीर गंभीर आलाप के बाद तोड़ी राग में ''रवि हुआ अस्त... इस निराला की रचना के प्रथम चरण का गायन हुआ. मंच पर प्रकाश धूसर हुआ और धुंए के बादलों के बीच काव्य वाचन और विजया शर्मा प्रभु राम की भूमिका में अवतरित हुई. इसके बाद तो रागों-तालों के अनेक सुंदर प्रयोगों पर विजया शर्मा के भावाभिनय ने अंतिम पद- ''होगी जय होगी जय हे पुरुषोत्तम नवीन'' तक पूरे दीक्षा सभागार को बांधे रखा। इसके पूर्व 1 मई की शाम को भी विजया जी व उनकी शिष्याओं (आकांक्षा, निधि, स्वाति और अर्चना) ने निरालाजी की ही ''गीतिका'' काव्यकृति की कुछ रचनायें नृत्य रूप में प्रस्तुत की थीं...। **-विवेक मृदुल**

वंश परंपरा पर महत्वपूर्ण दस्तावेज़

सामाजिक और मानवीय इतिहास का संकलन आज के आत्मकेन्द्रित होते जा रहे समाज के लिए एक महत्वपूर्ण देन है। पूर्वजों की परंपरा और सभ्यता के विकास की सच्चाई जानने के लिए वाचिक साहित्य एक प्रामाणिक ज़रिया हो सकता है।

प्रख्यात कथाकार और आईसेक्ट यूनिवर्सिटी के कुलाधिपति संतोष चौबे ने यह उद्गार ऐतिहासिक महत्व की पुस्तक 'लापसे वंश परिचय' के लोकार्पण प्रसंग में व्यक्त किए। दो सौ पृष्ठों के इस सचित्र ग्रंथ को वरिष्ठ चिंतक तथा रक्षा मंत्रालय के पूर्व वरिष्ठ अधिकारी डॉ. ललित किशोर चतुर्वेदी ने तैयार किया है। अरेरा कॉलोनी स्थित वनमाली सृजन पीठ के सभाकक्ष में आयोजित इस गरिमामय कार्यक्रम की अध्यक्षता चतुर्वेदी महासभा के पूर्व अध्यक्ष भरत चतर्वेदी ने की। संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया। इस अवसर पर 'चतुर्वेदी चंद्रिका' की संपादक विनीता चौबे भी विशेष रूप से उपस्थित थीं।

बरसों के शोध, अध्ययन और दस्तावेजों के संकलन के बारे में अपने किताबी अनुभव साझा करते हुए लेखक डॉ. ललित किशोर ने बताया कि लापसे वंश का विस्तार से परिचय देती इस पुस्तक में माथुर चतुर्वेदी समाज के वंशजों का प्रमाणिक इतिहास है। उन्होंने कहा कि ऐसी कोशिशें अकेले संभव नहीं हैं। इसमें कई सूत्र और माध्यम मददगार होते हैं।

पुस्तक की समीक्षा करते हुए संतोष चौबे ने कहा कि हम सबके भीतर उम्र के एक पड़ाव पर जाकर अपने पूर्वजों का इतिहास जानने की ललक होती है। डॉ. ललित के इस शोधात्मक ग्रंथ ने यह जिज्ञासा शांत की है। चौबे ने इस कार्य में वाचिक परंपरा से जुड़े साहित्य और सांस्कृतिक पक्षों को भी जरूरी तत्व की तरह देखने-समझने का सुझाव दिया। भरत चतुर्वेदी ने डॉ. ललित के इस परिश्रम साध्य कार्य की सराहना की और कहा कि आपाधापी के इस जमाने में हम अपनी सामाजिक आत्मीयता और नातेदारी के महत्व को भूलते जा रहे हैं। यह किताब हमें अपने मूल में लौटने की प्रेरणा देती है।

डॉ. ललित किशोर की पुस्तक लोकार्पित

आरंभ में माथुर चतुर्वेदी शाखा की ओर से अध्यक्ष राजेश चतुर्वेदी तथा सचिव हरीश चतुर्वेदी ने अतिथियों का स्वागत किया।

अपराजेय योद्धा थे श्रीकान्त जोशी

इन्दौर स्थित प्रीतमलाल दुआ सभागार में पाँच जून को हिन्दी के सुपरिचित कवि-गीतकार स्व. श्रीकान्त जोशी का ग्यारहवाँ स्मृति-प्रसंग आयोजित किया गया। इस बार संस्कृतिकर्मी विनय उपाध्याय (भोपाल) ने श्रीकान्त जोशी के जीवन के विभिन्न पहलुओं को याद करते हुए अपने छात्र जीवन के आत्मीय आत्मीय संस्मरण सुनाए। उन्होंने खण्डवा में श्रीकान्त जी के सान्निध्य में बिताए दिनों को याद करते हुए कहा कि श्रीकान्तजी जिस तरह साहित्य में प्रखर साहस के हिमायती थे ठीक उसी तरह वे व्यक्तिगत जीवन में भी एक साहसी और प्रेरक व्यक्ति थे। वे दुःख को जीतना जानते थे। उससे पार जाना जानते थे। विनय ने कहा कि सर हमें बताते थे कि सफलता बिना योग्य बने नहीं हासिल हो सकती। वे अपराजेय योद्धा थे। वे एक साथ तीन पीढ़ियों से सम्वाद रखते थे। उनका व्यक्तित्व नितांत उजला और आत्मीय था। उनकी मेहमाननवाजी देखने योग्य हुआ करती थी।

इसके बाद हिन्दी प्रगतिशील धारा के सुपरिचित कवि एवं संस्कृतिकर्मी हरिओम राजोरिया (अशोकनगर) ने अपनी कविताओं का पाठ किया। एक ओर जहाँ उन्होंने अपनी रचनाओं में समकालीन व्यवस्था की विसंगतियों पर तल्ख टिप्पणी की, वहीं दूसरी ओर उन्होंने कुछ ऐसी कविताएँ भी पढ़ीं जिनमें वर्तमान समय में मानवीय सम्वेदनाओं के मरते जाने और पारस्परिक रिश्तों के छीजने की पीड़ा को समझने की ईमानदार कोशिश की गई थी। यह हरिओम की विशेषता भी है कि वे छोटी-छोटी सी चीज़ों और स्थितियों पर मार्मिक कविताएँ लिखते रहे हैं। उन्होंने कुछ ऐसी ही कविताएँ सुनाईं, जिन्हें सुनकर श्रोताओं ने महसूस किया कि अलक्षित रह जाने वाली ज्यादातर चीज़ें एक सजग कवि की नज़र से देखने पर कितनी महत्वपूर्ण नज़र आने लगती है। गाने वाली औरतें ठीक आदमी, बुलावा, ऐनक तथा अभिनेता आदि कविताओं को श्रोताओं की भरपूर सराहना प्राप्त हुई।

शुरुआत में श्रीकान्त जी के बेटे आशुतोष जोशी तथा बड़ी बेटी आराधना श्रोती ने पुष्पगुच्छ से क्रमशः हरिओम राजोरिया तथा विनय उपाध्याय का स्वागत किया। खण्डवा से पधारे पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के भतीजे एवं श्रीकान्त जोशी जी के भाई प्रमोद चतुर्वेदी ने आखिर में रचनाकारों को अपनी ओर से स्मृति चिह्न भेंट किए। इस अवसर पर श्रीकान्तजी के दुर्लभ चित्रों की एक प्रदर्शनी भी लगाई गई। श्रीकान्तजी तथा आगंतुक रचनाकारों की कविताओं पर आधारित कुछ कविता-पोस्टर भी प्रदर्शित किए गए। इस आयोजन में सर्वश्री कृष्णकान्त निलोसे, सूर्यकान्त नागर, भालचन्द्र जोशी, सत्यनारायण पटेल, बहादुर पटेल, प्रदीप मिश्र, प्रदीपकांत सत्येन्द्र शर्मा, प्रतिभा शर्मा, सुनील उपाध्याय, सुशील अत्रे, साकेत श्रोती, वसंत सकरगाए, तनवीर फारुखी, ज्योति मौर्य सहित मित्र तथा परिजन भी मौजूद रहे।

कवि-अनुवादक उत्पल बैनर्जी तथा अपूर्वा बैनर्जी द्वारा संयोजित इस भावप्रवण कार्यक्रम का संचालन कवि तथा समाजसेवी विनीत तिवारी ने किया।

श्रीकांत जोशी स्मृति प्रसंग के मंच पर विनय उपाध्याय और हरिओम राजौरिया

नरेशजी को शमशेर सम्मान

कविता को आनंद की कला मानने वाले समकालीन हिन्दी कवि नरेश सक्सेना को लखनऊ में आयोजित एक समारोह में शमशेर सम्मान से विभूषित किया गया। खंडवा की संस्था 'अनवरत' द्वारा स्थापित अलंकरण प्रसंग में वरिष्ठ पत्रकार और लेखक ओम थानवी विशेष रूप से उपस्थित थे। अपनी कविताओं में नए प्रयोगों और अभिव्यंजनाओं के लिए लोकप्रिय नरेशजी का मानना है कि कविता विज्ञान नहीं है, वह अंततः कला है। यदि हम मोची होते तो अपना जूता खुद बनाकर पहनते, रसोइये होते तो अपनी खिचड़ी, घी और अचार के साथ खाकर मगन होते, लेकिन कविता बिना पाठक-श्रोता के पूरी नहीं होती। विचार बेशक हमें नई दृष्टि देते हैं लेकिन कविता केवल विचारों से नहीं बनती। अगर ऐसा होता तो समाजशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान और राजनीति पर किताबों की भला क्या कमी है।

शमशेर सम्मान को लेकर अपनी प्रतिक्रिया में उन्होंने कहा है कि बहुत कम करके उन्हें बहुत ज्यादा मिला है। ऐसा लगता है मानो दूसरे के हिस्से का भी मुझे मिल गया है। खुद को पूछता हूँ कि क्या मैंने उतना किया जितना मुझे करना चाहिए था। पुरस्कार चकित भी करते हैं और असंतोष भी भर देते हैं। हालांकि यह कविता ही है जो पुरस्कार प्रेम, आत्मीयता सब दिलवाती है। इसलिए हर बार स्वयं से कहता हूँ- 'नरेश, इसके लायक बनो?' कवि प्रतापराव कदम द्वारा संयोजित इस समारोह में साहित्य, संस्कृति, समाज तथा प्रशासनिक वर्ग के कई गणमान्यजन उपस्थित थे।

वो दिन, वो उजाले

''जो सुख उस मुफलिसी में था, अब सितारा होटलों में भी नहीं मिलता। भला मिले भी कैसे? अब आत्मीयता का स्थान घोर कृत्रिमता ने ले लिया है।'' ये उद्‌गार थे प्रख्यात साहित्य और आकाशवाणी के महानिदेशक लीलाधर मंडलोई के। वे दुष्यन्त कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय भोपाल की नई संस्मरण संवाद श्रृंखला 'वो दिन वो उजाले' की पहली कड़ी में अपने संस्मरण सुना रहे थे।

कार्यक्रम के आरम्भ में निदेशक राजुरकर राज ने इस श्रृंखला की रूपरेखा पर प्रकाश डाला। रामप्रकाश त्रिपाठी ने मंडलोई की प्रकृति को रेखांकित किया। श्याम मुंशी ने मंडलोई के उत्तरोत्तर विकास का उल्लेख किया। मंडलोई ने माँ और पिता से जुड़े आत्मीय और प्रेरक प्रसंग सुनाये। पातालकोट को उन्होंने अपने तरीके से याद किया। भोपाल के अपने अतीत को याद करते हुए उन्होंने बताया कि ''उनतीस रुपये भाड़े की खोली में तीन मित्र सलीके से पाँव फैला सकते थे। उन दिनों एक मौका ऐसा भी आया कि रुपये के अभाव में तीनों मित्रों को लगातार तीन दिनों तक केवल पानी पीकर गुजारना पड़ा। चौथे दिन ध्यान आया कि कनस्तर में कुछ आटा चिपका हुआ है और स्टोव की तली में तेल इतना बचा है कि उसे टेढ़ा करके आटे की आँच दिखाई जा सके। तीनों मित्रों की मशक्कत रंग लाई, जब उसमें ढाई लोटा पानी डाला और नमक मिलाकर लगभग पी गये। उसके बाद जाने कितने बड़े रेस्तरां और सितारा होटलों में जाने का अवसर या, लेकिन वह स्वाद वहाँ नहीं था।''

पंकज, अखिलेश और वसंत को वागीश्वरी सम्मान

सरकार को चाहिए कि पुरस्कार में केवल पुस्तकें भेंट की जाएं चाहे वो पहलवान को ही क्यों न दी जाएं, किताब पढ़ने से पहलवान कमजोर नहीं होगा किताब कभी एक्सपायर नहीं हती है और न ही यह सवास्थ्य के लिए हानिकारक होती हैं।

यह बात साहित्य अकादमी पुरस्कार से विभूषित देश के वरिष्ठ कवि चन्द्रकांत देवताले ने भोपाल में म.प्र. हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा मायाराम सुरजन फाउण्डेशन द्वारा आयोजित वागीश्वरी पुरस्कार समारोह में कही। इस अवसर पर कथाकार पंकज सुबीर, लेखक चित्रकार अखिलेश तथा युवा कवि वसंत सकरगाए को समारोह पूर्वक वागीश्वरी पुरस्कार प्रदान किया गया।

भोपाल स्थित राष्ट्रीय तकनीकी शिक्षक प्रशिक्षण एवं शोध संस्थान के सभागार में दिनांक 30 मार्च 2013 को आयोजित गरिमामय कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए श्री चनद्रकांत देवताले ने कहा कि रचनाकारों का सम्मान करना जरूरी है इससे उनका हौसला बढ़ता है साथ ही इस बात का भी पता चलता है कि समाज की निगाह उनके लेखन पर है। साथ ही रचनाकारों को भी ये समझना चाहिये कि पुरस्कार एवं सम्मान एक बड़ी चुनौती होती है अपने आप के लिये।

कार्यक्रम के मुख्य अथिथि पूर्व पुलिस महानिदेशक आरपी मिश्रा ने वरिष्ठ पत्रकार मायाराम सुरजन फाउण्डेशन द्वारा हिन्दी साहित्य

वागीश्वरी अलंकृत रचनाकार अखिलेश, पंकज सुबीर और वसंत सकरगाए

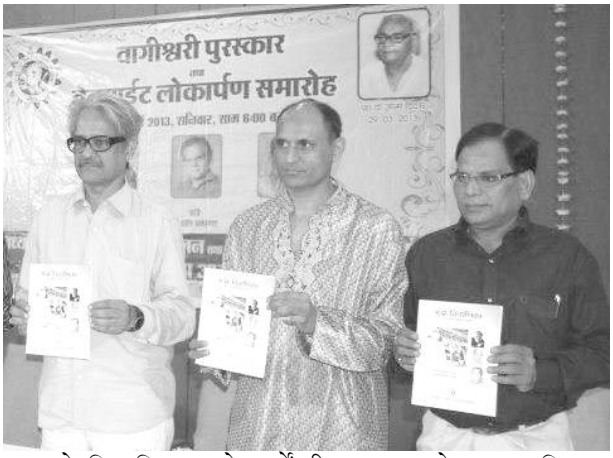

जगत के लिए किए जा रहे कार्यों की सराहना करते हुए कहा कि स्व. मायाराम जी के कार्यों को जनता तक पहुंचाना हम सभी का दायित्व बनता है अच्छी बातों को सदा समाज तक पहुंचना ही चाहिए। सुप्रसिद्ध कवि प्रयाग शुक्ल ने कहा कि मायाराम सुरजन फाउण्डेशन का कार्य काफी सराहनीय है कला से जुड़े लोगों में संवाद और भी बढ़ना चाहिए भोपाल में जो वातावरण है वो देश में कहीं और दिखाई नहीं देता है।

वरिष्ठ पत्रकार ललित सुरजन ने मायाराम सुरजन फाउण्डेशन द्वारा किए जा रहे कार्यों के बारे में विस्तार से चर्चा की। कार्यक्रम में कथाकार पंकज सुबीर को उनके उपन्यास 'ये वो सहर तो नहीं' हेतु, लेखक चित्रकार अखिलेश को उनकी पुस्तक 'दरसपोथी' तथा युवा कवि वसंत सकरगाए को काव्य संग्रह 'निगहबानी में फूल' के लिये वागीश्वरी पुरस्कार प्रदान किया गया। तीनों को पुरस्कार के रूप में शाल श्रीफल सम्मान पत्र तथा इक्यावन सौ रुपये की सम्मान राशि प्रदान की गई।

इस अवसर पर अक्षर पर्व के स्व. मायाराम सुरजन पर केन्द्रित विशेषांक तथा म.प्र. हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा वागीश्वरी पुरस्कार पर विशेष रूप से प्रकाशित विवरणिका का विमोचन अतिथियों द्वारा किया गया। अक्षर पर्व की संपादक सर्वमित्रा सुरजन ने विमोचन कराते हुए अक्षर पर्व की जानकारी दी। कार्यक्रम का संचालन श्री मुकेश वर्मा द्वारा किया गया, आभार वसुधा संपादक राजेन्द्र शर्मा ने व्यक्त किया। कार्यक्रम में मायाराम सुरजन फाउण्डेशन द्वारा बनाई गई वेब साइट का भी लोकार्पण किया गया।

हरिराम मीणा को बिहारी पुरस्कार

वर्ष 2012 का बिहारी पुरस्कार राजस्थान के लेखक हरिराम मीणा को दिया जाएगा। यह पुरस्कार मीणा को उनके उपन्यास 'धूणी तपे तीर' के लिए दिया जा रहा है।

महाकवि बिहारी के नाम पर इस पुरस्कार की स्थापना के.के. बिड़ला फाउंडेशन ने 1991 में की थी। यह पुरस्कार राजस्थान में सात साल से रह रहे लेखक या देश में कहीं भी रह रहे राजस्थान के मूल निवासी लेखक को दिया जाता है। उपन्यास का चयन आलोचक नंदकिशोर आचार्य की अध्यक्षता वाली चयन समिति ने किया।

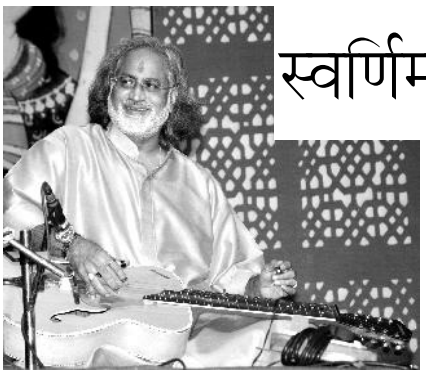

स्वर्णिम यात्रा का सुरीला उत्सव

धरती के आँगन में फागुन ने फैलाया अपना सतरंगी आँचल और मौसम की इस मनछूती अंगड़ाई पर सुर, साज़ और आवाज की मीठी मोहर लगाने एक जलसा अपनी तमाम सुनहरी यादों का महकता गुलदस्ता सजाए अवाम के रूबरू था। मस्जिदों, महलों, मीनारों और अपनी पानीदार दिली तासीर के लिए मशहूर भोपाल की रंगभूमि पर इस जलसे की तसवीर दरअसल संस्कृति और सृजन की हिमायत में गुजरे उन पचास बरसों की उमड़ती आकांक्षाओं का रौशन चेहरा था जो अभिनव कला परिषद का नाम पाकर देश-देशांतर के फनकारों की पहली पसंद बना है। 22 से 26 मार्च की तारीखें इस बात की ताईद करती रहीं कि नेक नीयत से अपने सफर का आगाज़ करने वाली संस्थाएँ बहुत दूर तक अपने कारवाँ को ले जाने में कामयाब होती हैं। अभिनव की पाँच दशकों की यात्रा इसी बुनियाद की मिसाल है। स्वर्ण रंगों से सराबोर 'वसंतोत्सव' का दिलचस्प पहलू सिर्फ इतना भर नहीं कि भोपाल के रवीन्द्र भवन में राग-ताल और लयकारी की महफिलें हुई और आला दर्जे के फनकारों ने शिरकत कीं बल्कि काबिलें गौर यह भी कि इस जश्न के आकार से अंजाम तक तमाम सरंजाम जुटाने फनकार ही आगे आए। हमेशा की तरह रचे-बसे इस सुन्दर विन्यास को अपने पुरुषार्थ में साधने संस्था के सचिव पं. सुरेश तातेड़ ने समावेशी उत्साह का परिचय दिया, और अपने दमखम से उर्दू अदब के गहवारे भोपाल के कला प्रेमियों से सतत गहरा रिश्ता बनाये रख इस संस्था को 50 साल की देहरी पर ला खड़ा किया।

समरसता और सौहार्द की संधि पर साकार हुए इस पाँच दिवसीय कला पर्व में कृतज्ञता और सम्मान की सात्विक गंध थी। संगीत-पुरुष उस्ताद अलाउद्दीन खाँ के 150वीं जयंति और उनके प्रिय शिष्य भारत रत्न पंडित रविशंर की स्मृति को समर्पित करते हुए उन्हीं के शागिर्दों ने फागुनी शामों उल्लास के नए रंग भरें। फनकारों की फेहरिस्त मे पंडित विवमोहन भट्ट, रोनू मजूमदार, समरेश चौधरी, उल्हास बापट, शुभेन्द्र राव और प्रभाकर दिवाकर कश्यप से लेकर मंजू बेन मेहता और शाम्भवी शुक्ला तक शास्त्रीय संगीतकारों और नर्तकों के चमकदार नाम थे। इस बीच एक शाम सिने-संगीत का जादू भी सिर चढ़कर बोला जिसके सूत्रधार बने प्रख्यात फिल्म संगीतकार आनंदजी (कल्याणजी-आनंदजी)। एक अर्थ में यह कला से प्रेमकरने वाले रसिक-समाज का उत्सव था जिसमें संस्कृति, शिक्षा, प्रशासन, उद्योग और राजनीति से जुड़ी शिखर-विभूतियों से लेकर अदना कलाप्रेमी भी शुमार थे।

रवीन्द्र भवन में बाईस मार्च की बासंती शाम बनारस के राग-रस में भिगोने पंडित राजन-साजन के तालीमशुदा शागिर्द प्रभाकर-दिवाकर कश्यप मंच पर नमूदार हुए। परंपरा की खनक उनके कंठ संगीत में कुछ इस तरह परवान चढ़ी कि होली का अल्हड़-मीठा सैलाब सारे रसिकों पर हावी हो गया। रामेन्द्र सोलंकी का तबला कश्यप बंधुओं की पेशकश को पूरी रवानगी देता रहा। इस सुरीले मुकाम पर मोहन वीणा की झंकार लिए जगत ख्यात पंडित

विश्वमोहन भट्ट प्रकट हुए। खुद के रचे राग विश्वरंजनी का सरगम छेड़ते हुए उन्होंने अपने आविष्कृत साज का तंत्रकारी और गायिकी अंग पूरी तल्लीनता से खोला। रामदास पलसुले ने तबले और अखिलेश गुंदेचा ने पखावज पर बेहतर तालमेल की।

दूसरी महफिल मंजू मेहता के सितार वादन से शुरू हुई जबकि सभा को अपनी साधना और कौशल से कथक की रंजनकारी प्रस्तुत का नया आयाम देने शांभवी शुक्ला रूबरू थी। जयपुर की शैलीगत खूबियों में अपनी कल्पना के रंग भरते हुए इस नृत्यांगना ने पारंगत संगतकारों के साथ बेहद उम्दा प्रदर्शन किया अभिनव कला परिषद् के मंच अपने कला जीवन की पहली सीढ़ी मानने वाले सिद्ध-प्रसिद्ध बांसुरी वादक पंडित रोनू मजूमदार ने उत्सव की एक शाम पूरिया राग के जरिए पार की। उनका वादन थमा, तो उल्हास बापट ने संतूर पर गौरख कल्याण का झरना प्रवाहित किया।

सांझ की संजीदा तासीर को सितार के तार पर छेड़ते एक सभा में बांग्ला मूल के विलक्षण साज़िंदे पंडित शुभेन्द्र राव ने दस्तक दी। अपने गुरू पंडित रविशंकर द्वारा ईजाद राग जोगेश्वरी पर एकाग्र होकर राव ने जादुई सम्मोहन जगाया। वादन के उपरांत गायन की गमक भरी, गंभीर प्रस्तुत का रंग घोला पंडित समरेश चौधरी ने। राग चुना-कामेश्वरी जिसे पंडित रविशंकर ने ही तैयार किया है। बड़ा और छोटा ख्याल जितना डूबकर इन्होंने गाया, उतना ही लोकधर्मी निर्वाह उन्होंने ठुमरी में किया। रामस्वरूप रतौनिया का तबला और जमीर हुसैन की हारमोनियम हर बंदिश पर सुसंगत थी।

अभिनव की स्वर्णिम यात्रा के इस समागम में चित्रपट संगीत की नायाब खासियत आनंदजी की शिरकत एक यादगार पहलू बनी। भोपाल के संगीतकारों संजीव सचदेवा, अनिल ओझा, केदार चौहान के साथ

अभिनव कला परिषद के पाँच दशकों का कृतज्ञता पर्व

मिलकर आनंदजी के निर्देशन में संगीता मेलेकर, जाकिर हुसैन और अनिल कोचर ने उन सदाबहार नगमों को आवाज दी जो आज भी लोगों की जुबां पर थिरकते हैं। आनंदजी ने भावुकता से भरे अपने उद्बोधन में अभिनव कला परिषद् से अपने आत्मीय रिश्ते का जिक्र किया। उन्होंने जनता से अपील की कि अगर सरकार ऐसी इतिहास रचने वाली संस्था को संरक्षण नहीं दे रही है तो जनता का दायित्व है, इसे ज़िंदा रखे।

उत्सव के प्रत्येक दिन 'अभिनव' ने पिछले पचास बरसों में संस्था को अपना अमूल्य योगदान देने वाले सहयोगियों तथा आमंत्रित कलाकारों को सम्मान भेंट किया। सभाओं का सुचारु संचालन वरिष्ठ उद्घोषक कलाधर्मी कमलेश जैमिनी ने किया। **-विनय उपाध्याय**

डॉ. 'मानव' सम्मानित

वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. रामनिवास 'मानव' को मध्यप्रदेश की संस्कारधानी जबलपुर में दोहरा सम्मान प्राप्त हुआ है। मध्यप्रदेश लघुकथाकार-परिषद् के 28वें वार्षिक राष्ट्रीय अधिवेशन में, समग्र कृतित्व-योजना के अंतर्गत, परिषद द्वारा उन्हें विशिष्ट सरस्वती-पुत्र सम्मान' प्रदान किया गया, वहीं पाथेय साहित्य-कला अकादमी ने उन्हें 'पंडित ब्रह्मदत्त तिवारी स्मृति-सम्मान' प्रदान किया। परिषद् के अध्यक्ष मोह, मुइनुद्दीन 'अतहर', अकादमी के निदेशक डॉ. राजकुमार तिवारी 'सुमित्र' तथा वरिष्ठ साहित्यकार आचार्य भगवत दुबे ने डॉ. 'मानव' का अभिनंदन किया। मासिक संस्कार सारथी दिल्ली एवं साहित्य क्रांति गुना के द्वारा गाँधी शांति प्रतिष्ठान दिल्ली में आयोजित अपने सारस्वत अनुष्ठान में अक्षर शिल्पी सम्मान डॉ. राजश्री रावत, नवल जायसवाल, प्रीति प्रवीण खरे एवं अनुपमा श्रीवास्तव को प्रदान किया गया।

राजेश को टैगोर सम्मान

युवा पत्रकार राजेश गाबा को रवींद्र नाथ टैगोर के जन्मदिवस पर भोपाल में आयोजित रवींद्र नृत्य, नाट्य, संगीत एवं सम्मान समारोह में 'टैगोर कला समीक्षक सम्मान-2013' से सम्मानित किया गया। उन्हें यह सम्मान मध्यप्रदेश के नगरीय प्रशासन मंत्री बाबूलाल गौर ने दिया। भारत भवन के अंतरंग सभागार में गाबा के साथ उनके पिता देशराज गाबा और हेमलता गाबा ने सम्मान ग्रहण किया।

रवींद्र उत्सव का आयोजन सांस्कृतिक प्रकोष्ठ भारतीय जनता पार्टी एवं रवींद्र अमेच्योर नाटक ग्रुप के संयुक्त तत्वावधान में हुआ। इस अवसर पर संस्था के अध्यक्ष - रंगकर्मी राजेश भदौरिया और सचिव रीना सिन्हा भी उपस्थित थे।

कुरैशी का गजलपाठ

'ग़ज़ल कहना आसान नहीं है। ग़ज़ल के मिजाज़ को जहीर भाई बेहतर तरीके से समझते हैं और आम आदमी की बात अपनी गजल में कहते हैं।'' - ये उद्‌गार थे हिन्दी व्यंग्य के सिद्धहस्त रचनाकार श्री माणिक वर्मा के। वे दुष्यन्त कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय में आयोजित जहीर कुरैशी के एकलपाठ के अवसर पर मुख्य अतिथि थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता हिन्दी ग्रंथ अकादमी के डॉ. सेवाराम त्रिपाठी ने की।

धीरे-धीरे उस मुकाम पर आते हैं कुछ लोग, जीवन में ही दन्तकथा बन जाते हैं कुछ लोग' जैसे प्रभावशाली शेर पर कुरैशी को भरपूर दाद मिली। 'तुम्हारे दुख में हमारी भी पीर शामिल है, ये आत्मा ये समूचा शरीर शामिल है', पीने की तरह निकले पलटकर घर नहीं आये, बहुत से प्रश्न हैं जिनके कभी उत्तर नहीं आये' आदि गजलें कुरैशी ने प्रस्तुत कीं। अध्यक्षीय वक्तव्य में डॉ. सेवाराम त्रिपाठी ने कहा कि श्री कुरैशी ने हिन्दी और उर्दू के बीच संतुलन बनाने का भी काम किया है। संचालन गीतकार श्री दिनेश प्रभात ने किया।

का बांचे अखबार...

''नित नित खबरें निरखी बासी/लूट डकैती हत्या फांसी/छापे पकरा धकरी खासी/थाने चौकी सत्यानाशी/अबला अत्याचार/बताओ का बांचे/का बांचे अखबार, बताओ का बांचे'' - अपनी कविता में ये चिन्त व्यक्त करते हुए व्यवस्था से प्रश्न भी पूछे वरिष्ठ कवि बटुक चतुर्वेदी ने। वे दुष्यन्त कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय भोपाल में एकल कवितापाठ कर रहे थे। इस अवसर पर संग्रहालय की ओर से बटुक चतुर्वेदी का शॉल श्रीफल से अभिनन्दन किया। कार्यक्रम में उनकी बुन्देली कृति 'काउ से का कइयै' और उनके उपन्यास 'हेमन्तिया उर्फ कलक्टरनी बाई' पर केन्द्रित डॉ. पद्मा शर्मा द्वारा सम्पादित कृति 'भीड़ से अलग एक आंचलिक उपन्यास' का लोकार्पण भी किया गया। समारोह में राजधानी के कई साहित्यकार, संस्कृतिकर्मी और समाजसेवी उपस्थित थे।

प्रसिद्ध रेखा चित्रकार और लेखक संदीप राशिनकर की कृति 'केनवास पर शब्द' का इंदौर में लोकार्पण

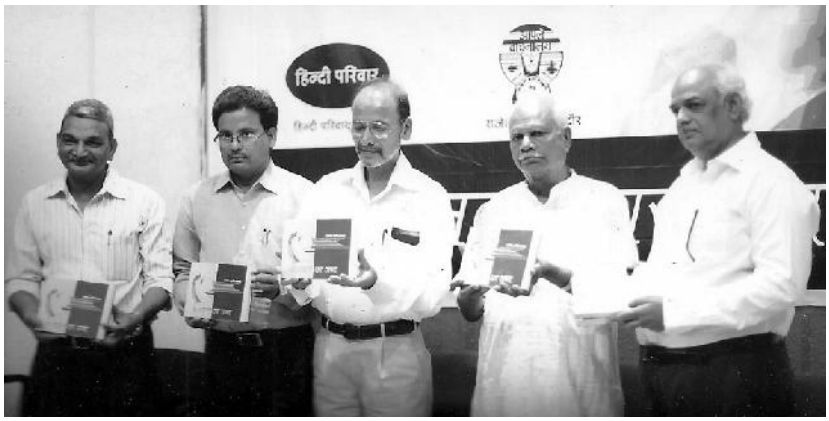

'केनवास पर शब्द'

रेखांकन कला के सुपरिचित हस्ताक्षर सन्दीप राशिनकर के पहले कविता संग्रह 'केनवास पर शब्द' का लोकार्पण वरिष्ठ साहित्यकार एवं 'देवपुत्र' के संपादक कृष्णकुमार अष्ठाना की मौजूदगी में सम्पन्न हुआ। हिन्दी परिवार इंदौर और आपले वाचनालय के इस संयुक्त आयोजन में कृति पर्यावरण मानव, समाज की पीड़ा, डरा हुआ जनमानस एवं आशा से भरी रचनाएँ हैं। पत्रकार दिलीप चिंचालकर के अनुसार रेखाओं की सरलता के साथ नट-बोल्ट की तकनीकी कविताएँ हैं। मुख्य अतिथि सन्दीप श्रोत्रिय ने कहा कि रचनाकार को अपनी कविताओं के बारे में निर्मम होना चाहिए। कृतिकार सन्दीप राशिनकर ने अपनी रचना धर्मिता पर बात करते हुए कृति का श्रेय अपनी माता सरयू एवं पिता बसंत राशिनकर को दिया और प्रथम कृति माता-पिता को भेंट कर आशीष प्राप्त किया। संकलन से कुछ कविताएं सुनाईं। संचालन हिन्दी परिवार के अध्यक्ष हरेराम वाजपेयी ने किया। आभार प्रदीप 'नवीन' ने व्यक्त किया।

'तीन पत्थर के चूल्हे पर'

एक भोगा हुआ यथार्थ, मर्म भरी जीवन की कहानियाँ जो दलितों, शोषितों, भूमिहीनों, किसानों, बेघरों की सच्ची तस्वीर नुमाया करती है सदाशिव कौतुक की कृति 'तीन पत्थर के चूल्हे पर'। हिन्दी परिवार एवं निमाड़ महासंघ द्वारा आयोजित लोकार्पण अवसर पर यह ध्वनि उभरी। समाजसेवी अनिल त्रिवेदी ने कहा कि सृजनशील विपन्न नहीं हो सकता। मुख्य अतिथि किसान मजदूर आंदोलन की प्रणेता सुश्री मेघा पाटकर ने कहा कि इस कृति

में श्री कौतुक ने आजादी के 66 वर्षों बाद की शोषित पीड़ित वर्ग की वास्तविक वेदनाएं व्यक्त की हैं। छिन्दवाड़ा जेल में इस पुस्तक ने रात बिताना मेरे लिए सहज कर दिया था। अध्यक्षता कर रहे आनन्द मोहन माथुर ने कहा कि आज का समय शोषण का है, कौतुक की यह कृति उसके विरुद्ध मार्ग बनाने का आव्हान करती है। इस अवसर पर श्री कौतुक ने रचना पाठ के साथ विचार व्यक्त किए।

अनूठा मजमा

प्रांतीय पत्र लेखक मंच (इंदौर) के अनूठे मजमे के रूप में प्रतिष्ठित 'गक्खड़ सम्मेलन' में उपस्थित गक्खड़ों ने हास्य और व्यंग्य की अविरल धारा में खूब अठखेलियाँ कीं। गद्य के व्यंग्य पाठ के इस कार्यक्रम के प्रारंभ में इस बार देश और शहर के जाने माने व्यंग्यकार रोमेश जोशी को गक्खड़ रतन की उपाधि से अलंकृत किया। जोशी ने अपनी व्यंग्य रचना 'दूसरे जूते का दर्द' के माध्यम से नेताओं पर जूते फेंकने की घटनाओं पर ती कटाक्ष किये। वरिष्ठ व्यंग्यकार जवाहर चौधरी ने धैर्य का महुआ मीठा होता है' रचना में गली-गली खुल रही शराब की दुकानों के मुद्दे को अनोखी व्यंग्यात्मक शैली में उठाया।

बुजुर्ग व्यंग्यकार कांतिलाल ठाकरे की रचनाएं पति को वश में करने की कला और 'हम भोजन के होशियार' भी पसंद की गई। मंच से जुड़े व्यंग्यकार नंदकिशोर बर्वे की महाभारत की घटनाओं पर आज के संदर्भ में व्यंग्यात्मक टिप्पणियों ने खासी दाद बटोरी। कार्यक्रम का काव्यात्मक संचालन श्री प्रदीप 'नवीन' ने किया।

विविधता का 'रंग परसाई'

जबलपुर की 'विवेचना रंगमंडल' ने पिछले दिनों पांच दिवसीय रंग परसाई-2013 राष्ट्रीय नाट्य समारोह का आयोजन जबलपुर के शहीद स्मारक में किया। समारोह प्रसिद्ध साहित्यकार, शिक्षाविद्, पत्रकार और पूर्व मेयर रामेश्व प्रसाद गुरू को समर्पित था। विवेचना की स्थापना वर्ष 1961 में हुई थी और संस्था ने 1975 से नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन से अपनी रंग यात्रा की शुरुआत की, जो आज तक जारी है। इस प्रयास को रंगकर्मियों के साथ-साथ दर्शकों ने भी सराहा। समारोह में मध्यप्रदेश नाट्य स्कूल के निदेशक संजय उपाध्याय को रंगकर्म में उल्लेखनीय योगदान देने के लिए 21 हजार रुपये की राशि भेंट कर सम्मानित किया गया।

पांच दिवसीय जलसे में निर्माण कला मंच पटना ने संजय उपाध्याय के निर्देशन में कंपनी उस्ताद 'अलंकार थिएटर ग्रुप' चंडीगढ़ ने चक्रेश कुमार के निर्देशन में 'थॉट, आल्टरनेटिव लिविंग थिएटर' कोलकाता ने प्रोबीर गुहा के निर्देशन में विषादकाल 'देवांचलतम् रंगमंडल' लखनऊ ने संगम बहुगुणा के निर्देशन में दामाद-एक खोज और मेजबान विवेचना रंगमंडल ने प्रगति-विवेक पाण्डेय के निर्देशन में मोहन राकेश लिखित आधे-अधूरे को प्रस्तुत किया। नाट्य समारोह में मंचित किए गए सभी नाटक विविध विषयवस्तु और प्रस्तुतियों की दृष्टि से दर्शकों को आकर्षित करने में सफल रहे। इस गतिविधि के माध्यम से विवेचना ने दर्शकों के लिए एक नया प्रयोग भी किया। प्रयोग के रूप में दर्शकों को टिकट पहले से उपलब्ध करवा दी गई और उनसे अनुरोध किया गया कि वे समारोह स्थल में अपनी इच्छा

नाटक - कंपनी उस्ताद

व क्षमतानुसार सहयोग राशि को एक डिब्बे में डाल दें। दर्शकों का अच्छा प्रतिसाद मिला और उन्होंने उत्साह से सहयोग राशि देने में कोई हीला-हव्वाली नहीं की। विवेचना के निदेशक अरुण पाण्डेय इसे दर्शकों की परिपक्वता के रूप में देखते हैं। **-पंकज गुलुश स्वामी**

पौड़ी में पाँच नाटक

इस बार भी नवांकुर नाट्य समूह पौड़ी (उत्तराखण्ड) ने 10 से 16 जून तक वहाँ के ऑडीटोरियम में आठवाँ रंग महोत्सव आयोजित किया। उद्घाटन आयुक्त गढ़वाल मंडल सुवर्द्धन ने किया, इस मौके पर जिलाधिकारी चन्द्रेश कुमार भी मौजूद रहे। शुरुआत अनुकृति रंगमंडल कानपुर की नाट्य प्रस्तुति गिरिजा के सपने के साथ हुई। बी. सुरेश के इस नाटक का हिन्दी रूपांतरण शैलजा ने किया। संगीतमय इस नाट्य प्रस्तुति में बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा पारंपरिक भारतीय बाजार पर आधिपत्य जमाने की साजिशों और किसानों की व्यथा को प्रभावशाली ढंग से रेखांकित किया गया है। विभिन्न भूमिकाओं में

आकांक्षा शुक्ला, दीपक राही, जौली घोष (मौसी), सुरेश श्रीवास्तव (गिरिजा के पिता), राजीव तिवारी (न्यूज रीडर), डॉ. ओमेन्द्र कुमार, मनोहर सुखेजा, अनिल निगम का अभिनय बेहतरीन था। कुलदीप सिंह द्वारा कंपोज गीत नाटक को गति प्रदान करते हैं।

अगले दिन अनुकृति कानपुर के कलाकारों ने मुंशी प्रेमचंद की नाट्य कृति 'मोटेराम का सत्याग्रह' (रूपांतरण सफदर हाशमी व हबीब तनवीर) का मंचन किया। नाटक अंग्रेजी हुकूमत के समय की नौकरशाही के तौर तरीकों को दर्शाता है (हालांकि स्थितियाँ आजादी के 65 साल बाद भी लगभग ज्यों के त्यों हैं)। सुरेश श्रीवास्तव (मजिस्ट्रेट), राजीव तिवारी (मोटेराम शास्त्री/पुलिस चीफ), जौली घोष (मोटेराम की पत्नी), आकांक्षा शुक्ला (चमेली जान), दीपक राज राही (अफसर/नट), अनिल निगम, प्रशांत पांडेह, सिरीष सिन्हा, संदीप उमराव, मनोहर सुखेजा, अनिल गौड़, आर.के. वर्मा, विजय कुमार समेत उमाकांत, अजय चौहान, निकिता आदि ने भी विभिन्न भूमिकाएं अभिनीत कीं। दोनों नाटकों का निर्देशन डॉ. ओमेन्द्र कुमार ने किया।

12 जून को नवांकुर नाट्य समूह के कलाकारों ने नई राह, 13 को दृष्टिकोण छत्तीसगढ़ ने ताजमहल का टेंडर, 14 को ताम्हणकर थिएटर ने भारतम्बा, 15 को बेला थिएटर दिल्ली ने हाय पैसा हाय व आखिरी दिन मसखरे का मंचन किया।

विदिशा में कविता पाठ

दिवंगत कवि घनश्याम मुरारी पुष्प के स्मरण में विदिशा में आयोजित कार्यक्रम में चर्चित युवा कवि एवं पत्रिका 'समावर्तन' के संपादक निरंजन श्रोत्रिय का कविता पाठ हुआ। कार्यक्रम की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध कवि नरेन्द्र जैन ने की। प्रस्तावना में श्री गोविन्द देवलिया, डॉ. सुरेश गर्ग और अविनाश तिवारी ने उद्‌बोधन दिये इसके पूर्व दुष्यंत तिवारी, दीपक तिवारी, मणि मोहन, राजेनद्र श्रीवास्तव एवं वृज श्रीवास्तव ने भी कविता पाठ किया। संयोजक बृज श्रीवास्तव में आभार व्यक्त किया।

भोपाल का 'प्रयोग' अमेरिका में

विगत चालीस वर्षों से रंगकर्म के क्षेत्र में सक्रिय भोपाल की नाट्य संस्था 'प्रयोग' की शाखा अब अमेरिका के न्यूजर्सी में भी कार्यरत हो गई है। 'प्रयोग-यूएसए' के नाम से स्थापित संस्था ने अपने प्रथम नाटक का मंचन न्यूजर्सी किया। प्रयोग के संस्थापक

वरिष्ठ रंग निदेशक प्रो. सतीश मेहता लिखित हास्य नाटक 'अदालत आशिकों की' का निर्देशन अमेरिका में सॉफ्टवेयर इंजीनियर और सतीश के बेटे अमिय मेहता ने किया है। यह प्रस्तुति यूएसए के एकमात्र हिन्दी चैनल 'टीवी एशिया' के ऑडिटोरियम में मंचित हुई।

प्रो. मेहता ने बताया कि हाल ही में अपने अमेरिका प्रवास के दौरान उन्होंने 'प्रयोग-यूएसए' का गठन किया। मकसद विदेश में भारतीय भाषा व संस्कृति का प्रचार-प्रसार करना है।

पखावज वादन

श्रुतिमुद्रा सांस्कृतिक समिति सागर द्वारा दरभंगा घराने के विख्यात कलाकार पखावज वादक एवं ध्रुपद गायक पं. उदय कुमार मलिक (नई दिल्ली) के प्रदर्शन आख्यान आजोयित किए गए। उदय मलिक ने अपने आख्यान में कुदऊसिंह महाराज छत्रपति सिंह जूदेव, सुविख्यात पखावज परंपरा के मूर्धन्य नाना पानसे तथा अपने समस्त अग्रजों और पूर्वजों की चर्चा करते हुए पखावज पर ताल चौताल में गज गामिनी, गज-मुक्ता, गज-मोहरा, गज-परन तथा दुर्लभ सरस्वती स्तुति एवं धमार-ताल में जाल परं, छंद, रेला, दुर्लभ काली स्तुति, पंचदेव स्तुति के साथ पखावज के सात प्रकारों का वर्णन करते हुए श्रोताओं को अपने ज्ञान तथा कला से रससिक्त किया। हारमोनियम नगमें पर कृष्णगोपाल श्रीवास्तव ने साथ निभाया। मंच संचालन कथक नृत्यांगना शाम्भवी शुक्ला ने किया। सचिव मुन्ना शुक्ला ने आभार माना।

कहानी पाठ

प्रगतिशील लेखक संघ कोलकाता द्वारा आयोजित कार्यक्रम में कथाकार रजनी गुप्त ने अपनी कहानी 'अनुत्तरित' का पाठ किया। तत्पश्चात् विमर्श में रमेश मोहन झा, एकांत श्रीवास्तव, रामनारायण सरोज, श्रुति मिश्रा, अदालत प्रसाद आदि ने अपने विचार रखे। कार्यक्रम का संचालन रुस्तम राय ने और धन्यवाद ज्ञापन ब्रज मोहन सिंह ने किया।

विचारगोष्ठी

मक्तिबोध की मशहूर कविता 'अंधेरे में' के प्रकाशन के पचास वर्ष के मौके पर जन संस्कृति मंच दिल्ली के कविता समूह की ओर से 'लोकतंत्र के अंधेरे में आधी सदी' विषय पर विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। गोष्ठी में मैनेजर पांडेय, अर्चना वर्मा, मंगलेश डबराल, अशोक भौमिक, रामजी राय आदि ने अपने विचार रखे।

संचालन आशुतोष कुमार ने किया और धन्यवाद ज्ञापित किया गोपाल प्रधान नेइस मौके पर अल्पना वर्मा, मदन कश्यप, महेश दर्पण, दिनेश मिश्र, रंजीत वर्मा, बजरंग बिहारी तिवारी, प्रेमलता वर्मा, भाषा सिंह, मुकुल सरल आदि मौजूद थे।

परिचर्चा

प्रगतिशील लेखक संघ की रायगढ़ इकाई द्वारा समकालीन कहानी एवं लघु पत्रिका पर परिचर्चा का आयोजन किया गया। रमेश शर्मा द्वारा कहानी पाठ के पश्चात् इस पर हुई परिचर्चा में उषा आठवले, बलदेव, तिलक पटेल, मुमताज भारती, रतन सिंह बिरदी आदि ने अपने विचार रखे। श्याम नारायण श्रीवास्तव ने 'लेखक पाठक मध्य वैचारिक सेतु की तरह लघु पत्रिकाएं' विषय पर आलेख का पाठ किया। कार्यक्रम का संचालन हर्ष सिंह ने किया। इस मौके पर देवांशु पाल के संपादन में निकली त्रैमासिक पत्रिका 'अर्थात्' के प्रवेशांक का विमोचन भी किया गया।

सम्मान

'शब्द प्रवाह साहित्य मंच' उज्जैन द्वारा व्यंग्यकार मुकेश जोशी की कृति 'लोकतंत्र की लीला' को शब्द रत्न सम्मान के तहत प्रथम पुरस्कार दिया गया। द्वितीय और तृतीय पुरस्कार क्रमशः गोविंद सेन और राकेश कुमार सिंह को दियागया। सम्मान समारोह की अध्यक्षता राम राजेश मिश्र ने, संचालन सुरेंद्र मीणा ने और धन्यवाद ज्ञापन राजेश रावत 'सुशील' ने किया। इस मौके पर मोहन सोनी और रामसिंह यादव को 'शब्द साधक' सम्मान प्रदान किया गया।

संवाद

महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के कोलकाता केंद्र में कथाकार काशीनाथ सिंह को भारतीय भाषा परिषद के 'रचना समग्र पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। इस अवसर पर आयोजित कहा-सुनी कार्यक्रम में रवि प्रकाश, हरिराम पांडेय, के.के. श्रीवास्तव, महेंद्र कुशवाहा, कामेश्वर सिंह, तारकेश्वर मश्रि ने काशीनाथ सिंह की कृतियों पर आलेख पढ़े। बीज वक्तव्य कृपाशंकर चौबे ने दिया। संचालन अभिजीत सिंह ने किया।

व्याख्यान

छंदों में दुनिया, दुनिया में छंद विषय पर केंद्रित 8वां निर्मल स्मृति व्याख्यान पिछले दिनों इंडिया इंटरनेशनल सभागार दिल्ली में आयोजित हुआ। इसमें राधावल्लभ त्रिपाठी, अशोक वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रयाग शुक्ल आदि ने अपने विचार रखे। निर्मल वर्मा की पत्नी और कवयित्री गगन गिल ने व्याख्यान के विषय के औचित्य पर प्रकाश डाला। अध्यक्षता रमाकांत शुक्ल ने की।

'वनमाली परिसर' में गूँजी सितार

देश-देशांतर में सितार की सुरमई दस्तक दे चुकी संगीत विदुषी डॉ. नीरा शर्मा अपने कला जीवन के अनेक बेशकीमती तजुर्बे को साझा करने वनमाली सृजनपीठ के परिसर में पेश आई। इस दौरान जैसे ही उन्होंने सितार पर राग रागेश्री मिश्र पहाड़ी और भैरवी की तान छेड़ी तो वनमाली परिसर सात सुरों की महक से जीवंत हो उठा।

इस कार्यशाला का शुभारंभ करने विशेष रूप से उपस्थित ख्यातनाम गायक और वरिष्ठ गुरु पंडित सिद्धराम स्वामी कोरवार ने कहा कि संगीत का हर साज जीवन और प्रकृति को ही गाता है। सितार की तासीर इतनी मीठी मधुर है कि इसके सम्मोहन से कोई बच नहीं सकता। इस मौके पर लेखक समालोचक रामप्रकाश त्रिपाठी और वनमाली सृजन पीठ के समन्वयक विनय उपाध्याय ने भी भारतीय संगीत की वादन परंपरा में सितार की अहमियत पर अपने विचार प्रकट किए। सरस्वती पूजा और सामूहिक प्रार्थना से कार्यशाला के रस्मी शुभारम्भ के बाद नीरा ने सितार का प्रारंभिक परिचय देते हुए इसे वीणा कुल का अग्रणी साज बताया। उन्होंने कहा कि सितार की समृद्ध परंपरा में गुरुओं और उस्तादों के योगदान को अनदेखा नहीं किया जा सकता। उन्होंने कहा कि नयी पीढ़ी के कलाकारों में अब पहले की तरह कठिन साधना और धीरज का माद्दा नहीं रहा, लेकिन ऐसे कार्यशालाओं के नरिंतर आयोजन एवं गंभीरता भरे वातावरण उम्मीद के पैगाम बन सकते हैं। प्रशिक्षुओं के सम्मुख उन्होंने राग रागेश्री में आलाप, जोड़ बजाने के बाद इसी राग में छोटी बंदिश और मिश्र पहाड़ी तथा भैरवी में धुनें पेश कीं, इनके साथ तबले पर इकरार हुसैन ने सादगीपूर्ण संगत की। चंद्रमोहन ठाकुर, कीर्ति श्रीवास्तव, स्वर्ण गुमास्ता, शिवालिनी सक्सेना एवं सीमा नायक सहित अन्य प्रशिक्षुओं ने अपनी सितार वादन से जुड़े प्रश्न किए जिनका समाधान डॉ. नीरा ने किया।

'खाली हो गया आकाश...'

'रावतजी की मित्रता, स्नेह और आत्मीयता से जो लोग भी रूबरू हुए होंगे, उन्होंने अपनी इस खासित को जरूर ग्रहण किया होगा। हम सभी को रावतजी की किताबें कहीं न कहीं बहुत गहराई तक उद्वेलित करती हैं। वे मित्र की तरह कविताओं को सुनाते थे और उनकी संवाद की शैली अद्भुत थी।' यह बात वरिष्ठ साहित्यकार पूर्णचंद्र रथ ने वरिष्ठ कवि भगवत रावत की पहली पुण्यतिथि पर आयोजित कार्यक्रम में कही। म.प्र. प्रगतिशील लेक संघ की ओर से इस कार्यक्रम का आयोजन एन.आई.टी.टी.टी.आर. भोपाल में किया गया। इस दौरान रावत की कविताओं के माध्यम से भावभीनी श्रद्धांजलि दी गई। श्री रथ ने रावतजी की दो कविताओं 'दोस्तों लो मैं

निकल आया बाहर...' और 'उड़ते चले गए पक्षी झुंड में खाली हो गया आकाश...' का पाठ किया गया। कार्यक्रम में उन पर केन्द्रित लघु फिल्म 'कवि और कविता' का प्रदर्शन भी किया गया। ई जानी-मानी हस्तियों ने अपने संस्मरण सुनाए। कार्यक्रम में मंजूर एहतेशाम, ओम भारती, शैलेन्द्र शैली, राजेश जोशी, विजय अग्रवाल, लता मुंशी, विनय उपाध्याय तथा प्रेमशंकर शुक्ला भी उपस्थित थे।

याद आये अक्षय बाबू

प्रसिद्ध शिक्षाविद् एवं स्वतंत्रता संग्राम सेनानी प्रो. अक्षय कुमार जैन को 'अक्षय तृतीय' के पावन पर्व पर उनकी ९३वीं जयंती के अवसर पर भोपाल में एक संस्मरण कार्यक्रम आयोजित कर याद किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता कामरेड गोविंद सिंह असिवाल द्वारा की गई एवं

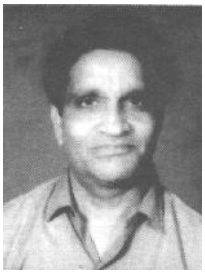

सेफिया कॉलेज से सेवानिवृत्त अक्षय जी के साथी प्रो. व्ही.पी. सिंह मुख्य अतिथि के रूप में शामिल हुए। संचालन मोहन सिंह ठाकुर द्वारा किया गया। इस अवसर पर आदिशक्ति परिवार से खलील कुरैशी, डॉ. हुकुमपालसिंह विकल, मांगीलाल जैन, श्रीमती विद्या नेगी, राम कुकरेजा, विजय पंथी ने अपने संस्मरण सुनायें। इनके अतिरिक्त समाज सेविका सुश्री कुंमुद सिंह, 'रागभोपाली' के संपादक कामरेड शैलेन्द्र कुमार शैली, सुनील कुमार गुप्ता पत्रकार, करवट के संस्थापक डॉ. बाबूराव गुजरे, सर्व संस्था की श्रीमती रचना पुरोहित आदि ने अपने अनुभवों और जैन साहब की भावपूर्ण यादों को सभा के साथ साझा किया।

अध्यक्षीय उद्‌बोधन के दौरान कामरेड गोविंद सिंह ्सिवाल ने कहा कि प्रो.जैन साहब मार्क्सवाद के अच्छे ज्ञाता थे उन्होंने जीवन भर ईमानदारी और निष्ठा की लड़ाई लड़ी। भोपाल के साहित्यिक जगत के मंचों की वे शान थे। मुख्य अतिथि प्रो. व्ही.पी. सिंह ने कहा कि वे मानवीय गुणों से ओत-प्रोत जीवट के धनी, विशाल व्यक्तित्व के स्वामी थे जो कि बाहर से चुटकुले छोड़ते, परन्तु अंदर ही अंदर विचारों को मथते रहते थे। वे हमारे वरिष्ठ प्रो. थे परंतु बाद की पीढ़ियों का निरंतर हौसला बढ़ाते थे'। वरिष्ठ कवि डॉ. हुकुमपाल सिंह विकल ने बताया कि मंचों पर उनका और जैन साहब का आदिशक्ति साहित्य कला परिषद के कार्यक्रमों में लगभग 8 वर्षों से अधिक निरंतर साथ रहा है, वहाँ उन्होंने हमेशा अपनी उल्लेनीय उपस्थिति दर्ज कराई है।

इस अवसर पर प्रो. अक्षय कुमार जैन द्वारा रची गई कुछ गजलों का पाठ शैलेन्द्र कुमार शैली द्वारा किया गया। कवियों ने प्रो. जैन पर आधारित कुछ मुक्तक और कविताओं का भी पाठ किया।

श्रुति के संतूर से झरे कोमल राग

भारत भवन के संगीत केंद्र अनहद की ओर से आयोजित 'परंपरा' सभा के तहत जानी-मानी संतूर वादक श्रुति अधिकारी ने संतूर वादन की प्रस्तुति दी। रागों की कोमलता एवं जीवन की गतिशीलता एक साथ अनुभूत होती रही। इस प्रस्तुति में संतूर के स्वरों में सचमुच परंपरा का अहसास जाहिर हुआ। श्रुति का संतूर भाव-रस में डूबने के लिए विनम्र संवेदनशीलता और ध्यान की दरकार रखता है और यह जरूरत कलाकार और श्रोता दोनों स्तरों पर पूरी होती दिखाई दी। वे देश की दुर्लभ महिला कलाकार हैं जिन्होंने कठिन साधना से जुड़े सूफियाना परंपरा के साज़ को अपने जीवन और व्यक्तित्व में अंगीकार किया।

इस सभा में श्रुति ने शाम की गहराती रात राग पूरिया कल्याण से वादन की शुरुआत की। संतूर वादन के लिए यह कोमल स्वर का यह राग अनुकूल चयन साबित हुआ। संतूर वादन करने वाली देश की इस पहली महिला कलाकार ने रागों की ऐसी कल्पनाशील बढ़त ली जो तंत्रकारी और गायकी दोनों ही अंगों में बेहद सधी और गमक से भरी रही। भारत भवन का अंतरंग सभागार निश्चय ही झंकृत हो उठा। इसके बाद इन्होंने राग किरवानी पेश कर सभागार में बैठे श्रोताओं को अपने वादन के नये आयाम का आस्वाद कराया। लगभग डेढ़ घंटे की प्रस्तुति का समापन श्रुति ने राग शिवरंजनी की बंदिश पेश कर किया। कश्मीर की सूफी परंपरा से जुड़े हुए संतूर वाद्य को सूफी संगीतकारों ने ही परवान चढ़ाया। दुनिया के तमाम मुल्कों में इस साज को आम फहम बनाने में अपनी उल्लेखनीय भूमिका निभाने वाले हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के गौरव पं. शिव शंकर शर्मा से संतूर की सघन तामिल लेने और सार्वजनिक प्रस्तुतियों का नया आत्मविश्वास पाने वाली श्रुति के वादन में आचरण अभ्यास और अनुशासन साफ दिखाई देता है। तबले पर बनारस घराने के मिथिलेश झा ने बेहतर संगत की। उद्‌घोषक थे विनय उपाध्याय।

ग्वालियर के यशस्वी संगीत घराने की उत्तराधिकारी संगीत गुरू और गायिका संगीता कठाले एवं सितार वादक डीवाय कठाले की सुपुत्री देश की अग्रणी संतूर वादिका हैं। इन्होंने पुरुषोचित वाद्य कहे जाने वाले संतूर को गहरे रियाज से साधा और लोकप्रिय बनाया है। इन्हें सुरमणि, सुर रत्न आदि पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है।

स्पंदन सम्मान-2012 घोषित

ललित कलाओं के लिए समर्पित स्पंदन संस्था भोपाल की ओर से स्थापित वर्ष 2012 के सम्मान घोषित कर दिए गए हैं। स्पंदन कथा शिखर सम्मान के लिए वरिष्ठ कथाकार नासिरा शर्मा, स्पंदन कृति सम्मान कहानी संग्रह 'कारोबार' के लिए ओमा शर्मा, स्पंदन कृति सम्मान कविता संग्रह 'अंतिम पंक्ति में' के लिए नीलेश रघुवंशी, 'प्रथम अंतर्राष्ट्रीय स्पंदन हिन्दी कथा सम्मान' तेजेन्द्र शर्मा, आलोचना सम्मान वैभव सिंह, स्पंदन साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान संज्ञा उपाध्याय को दिया जायेगा। शिखर सम्मान स्वरूप इकतीस हजार रुपए की राशि तथा स्मृति चिह्न और अन्य कलाकारों को सम्मान स्वरूप ग्यारह हजार रुपए की राशि तथा स्मृति चिन्ह प्रदान किये जायेंगे।

साहित्य और ललित कलाओं को समर्पित संस्था ''स्पंदन'' द्वारा स्थापित ललित कला पुरस्कार-2012 के लिये यशस्वी ओडीसी नृत्यांगना और कोरियोग्राफर सुश्री बिंदु जुनेजा का चयन किया गया है। पुरस्कार-सम्मान समिति की संयोजक उर्मिला शिरीष ने यह जानकारी देते हुए बताया कि सुश्री जुनेजा को यह पुरस्कार दिसंबर में भोपाल में आयोजित सालाना अलंकरण समारोह में भेंट किया जायेगा भारत सहित अनेक मुल्कों के प्रतिष्ठित मंचों पर अपनी एकल और सामूहिक नृत्य प्रस्तुतियां दे चुकी बिन्दु ने प्रख्यात नृत्यांगना और गुरु श्रीमती माधवी मुदगल से ओडीसी का विधिवत प्रशिक्षण प्राप्त किया जबकि मूर्धन्य नृत्याचार्य पंडित केलुचरण महापात्र के मार्गदर्शन में अपनी विधा की बारीकियों का अध्ययन किया। भारतीय शास्त्रीय नृत्य को समग्रता में समझने की दृष्टि से सुश्री बिंदु ने ओडीसी के साथ ही भरतनाट्यम, कथकली और मोहिनी अट्टम शैलियों का भी गहरा अध्ययन किया है। आई.सी.सी.सी.आर. और दूरदर्शन की मान्य कलाकार सुश्री जुनेजा भोपाल में नृत्य अकादेमी ''पर्ण'' के माध्यम से नई पीढ़ी को ओडीसी का परंपरागत प्रशिक्षण दे रही हैं। उल्लेनीय है कि चित्रकला और रंगकर्म के बाद नृत्य की विधि में स्पंदन का यह पहला पुरस्कार है।

लेखन ही जीवनशक्ति है

वरिष्ठ साहित्यकार बनाफर चंद्र की तीन कृतियों का भोपाल में विमोचन मानसून की एक खुशनुमा शाम को यादगार बना गया। वनमाली सृजनपीठ के इस आयोजन में कवि राजेश जोशी, संतोष चौबे, आलोचक रामप्रकाश त्रिपाठी, कवि राजेंद्र शर्मा की उपस्थिति में बनाफर चंद्र ने पनी कुछ कविताओं का पाठ किया एवं उनकी कृतियों और उस बहाने साहित्य लेखन पर एक गंभीर विमर्श ने उपस्थित साहित्यकारों, समाजसेवियों, ट्रेड यूनियन नेताओं एवं पत्रकारों को आंदोलित किया।

बनाफर चंद्र उन चंद लेखकों में से हैं, जिन्होंने कविता, गजल, उपन्यास, कहानी एवं आत्मकथा लेखन पर अपनी कलम चलाई है। हाल ही में उनकी तीन पुस्तकें- साहित्य प्रचारक प्रकाशन से ''अपने-अपने दायरे'' (कविता संग्रह), प्रथम प्रकाशन गृह से ''उसकी डायरी'' (कहानी संग्रह) एवं दिनमान प्रकाशन से ''अधूरा सफर'' (उपन्यास) प्रकाशित हुई हैं।

बनाफर चन्द्र की तीन पुस्तकों का लोकार्पण

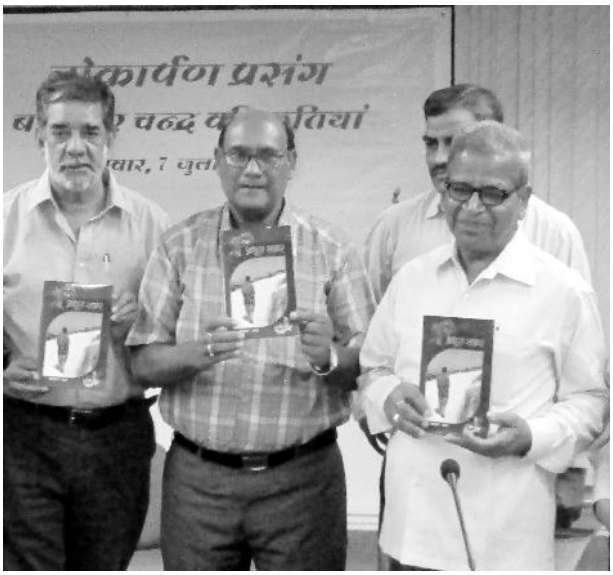

राजेश जोशी ने कहा कि बनाफर का अनुभव क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। इनके उपन्यास को पढ़ने से भी यह स्पष्ट होता है। लेखक के पास जब बहुत ज्यादा कुछ कहने को होता है, तो वह लेखन की कठिन परीक्षा की घड़ी होती है। जीवनानुभव को रचनात्मकता में परिवर्तित होने की प्रक्रिया होती है, जिसमें समय लगता है। यदि लेखक इस लगने वाले समय में जल्दबाजी नहीं करे, तो उसकी रचनाएँ बहुत ही सशक्त हो सकती हैं।

कवि-कथाकार संतोष चौबे ने कहा कि बनाफर का लेखन उनकी जीवन शक्ति है। लेखन को वे अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष का हथियार बनाए हुए हैं। उन्होंने कहा कि बनाफर को आंचलिक कथाकार कह दिया जाता है, पर आंचलिकता उनकी स्मृतियों में है और वे पूर्ण रूप से शहरी कथाकार हैं। 'उसकी डायरी', 'छींटे' एरं 'मुसहर' कहानियों का जिक्र करते हुए श्री चौबे कहते हैं कि बनाफर कभी-कभी ऐसे विंब बनाते हैं, जो पाठकों को विचलित कर देते हैं।

आलोचक रामप्रकाश त्रिपाठी ने कहा कि यूं तो बनाफर ने गजलें भी कही हैं, पर उनके कविता संग्रह 'अपने-अपने दायरे' को पढ़कर लगता है कि वे कविता के आदमी हैं। वे अपनी कविताओं में समाज, धर्म, राजनीति, परिवार सहित आसपास की सभी चीजों को ले आते हैं, पर सभी कविताओं में एक कॉमन बात यह नजर आती है कि वे सामाजिक मूल्यों से जुड़ी रहती हैं। कवि राजेंद्र शर्मा ने कहा कि अपने आसपास की परिस्थितियों से क्षोभ होने से कविताएं फूटती हैं। बनाफरचंद्र की कविताएं भी वर्तमान सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति क्षोभ से उपजी हैं। इनकी कविताएं संवेदनात्मकता से ज्ञानात्मकता की ओर ले जाती हैं। इस अवसर पर बनाफर चंद्र ने बताया कि उनके उपन्यास ''अधूरा सफर'' की पृष्ठभूमि भेल में काम करते समय हुई लंबी हड़तालों का दौर रहा है, जब मजदूर अपने हक के लिए प्रबंधन से आर-पार की लड़ाई लड़ते थे। उन्होंने कविता संग्रह से 'पानी और प्यास', 'चांद', 'होने का अर्थ', 'कुत्तों का रोना और भौंकना', 'खूबसूरत सपने', 'पिता की विरासत', 'समय का चूकना', 'गोली' एवं 'अच्छे लोग' कविताएं भी सुनाई।

कार्यक्रम की शुरुआत में साहित्यकार राग तैलंग ने वनमाली सृजन पीठ के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि तीन कृतियों के साथ बनाफर चंद्र का अवतरित होना साहित्यिक जगत को उत्साहित कर रहा है। कार्यक्रम में सूत्रधार की भूमिका कथाकार मुकेश वर्मा ने निभाई एवं साहित्यकार किशन तिवारी ने आभार व्यक्त किया।

पाठ की परम्परा में आलोचक

भारत भवन में पाठ परम्परा के अन्तर्गत आलोचक विजय बहादुर सिंह का पाठ हुआ। विजय बहादुर सिंह ने अपने रचनात्मक अवदान को श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत किया और नंददुलारे वाजपेयी की रचनावली की भूमिका के कुछ हिस्से का पाठ किया जिसमें काशी का अर्थ, उस समय का साहित्यिक इतिहास और संस्कृति का जीवंत वर्णन प्रस्तुत किया। 1925 के आसपास काशी का साहित्यिक समाज किस प्रकार आपस में जुड़ा था और किस प्रकार की महफिलें जिसमें छंद और शास्त्र पर कैसा विमर्श होता था इसका विस्तार से वर्णन था। डॉ. सिंह की भूमिका से श्रोताओं ने यह भी जाना कि काशी से युवा नंददुलारे वाजपेयी सृजनात्मकता के संस्कार लेकर आये।

अपने दूसरे आलेख में डॉ. सिंह ने यायावर लेखक, पत्रकार वसंत पोतदार की जीवनी को अलग भाषा और अलग तेवर के साथ प्रस्तुत किया। वसंत पोतदार के संस्मरण के बहाने उन्होंने बताया कि किस तरह एक जीवंत, स्वाभिमानी पत्रकार-कलाकार अपनी यायावरी से ऊर्जा पाता है। पोतदार के बहाने विजय बहादुर सिंह ने विदिशा, भोपाल और इन्दौर के अनेक मित्रों के साथ बिताये अपने समय को याद किया। रचना पाठ के पूर्व ने कहा कि आलोचना करना भी एक प्रकार का सृजनात्मक कर्म है। आयोजन की अध्यक्षता डॉ. रमेश दवे ने की।

खंडवा के रंग-पुरोधा की याद

नाटककार, पत्रकार, गीतकार स्व. शिवकुमार चवरे के कलात्मक अवदान पर केन्द्रित ग्रंथ 'स्मृति-बिंब' और ललितनारायण उपाध्याय द्वारा रचित व्यंग्य लघु कथाकृति 'एक गधे का प्रमोशन' का विमोचन म.प्र. विज्ञान शोध संस्थान उज्जैन के सभागृह में 26 मई को सम्पन्न हुआ। मुख्य अतिथि डॉ. मोहन गुप्त ने अपने भाषण में कहा कि शिवकुमार चवरे जैसी महान हस्ती से हम अपरिचित रहे यह हमारा दुर्भाग्य रहा ऐसे व्यक्ति की रचनाओं को पाठ्य पुस्तकों में स्थान मिलना चाहिए।

विशिष्ट अतिथि कृष्ण कुमार अष्ठाना ने अपने उद्‌बोधन में कहा खंडवा में पं. माखनलाल चतुर्वेदी, पं. रामनारायण उपाध्याय और दादा शिवकुमार चवरे जैसी हस्तियाँ हुईं जिन्होंने साहित्य एवं रंगकर्म क्षेत्र में काम किया। अध्यक्षीय उद्‌बोधन में मुकेश शुक्ल ने स्मृति-बिम्ब के संपादक मणिमोहन चवरे एवं प्रबंध सम्पादक अक्षय कुमार चवरे की मुक्त कंठ से प्रशंसा की एवं कहा कि आप दोनों ने एक छुपी हुई प्रतिभा से सबको अवगत कराया, वर्ना ऐसी महान हस्तियों को जानने से हम वंचित रह जाते। विक्रम विश्वविद्यालय के कुलानुशासक डॉ. शैलेन्द्र शर्मा ने स्मृति बिंब के प्रकाशन पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि यह स्मृति ग्रंथ नहीं पूरा दस्तोज है और इसे पढ़कर यह

लगा कि बिना शिवकुमार चवरे के नाट्य इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता। इनकी सारी नाट्य रचनाएँ व कार्य शोध का विषय है। 'एक गधे का प्रमोशन' के लिए उन्होंने कहा कि इस तरह की कृष्णचंदर के बाद यह तीसरी रचना सामने आई। व्यंग्य लघु कथाएँ लिखने का दुरुह कार्य आसान नहीं होता। स्व. शिवकुमार चवरे के एकमात्र जीवित शिष्य अन्नाभाऊ कोटवाले ने दादा के बारे में दुर्लभ जानकारी देते हुए बताया कि एक साधारण शिक्षक के बहु आयामी व्यक्तित्व के कारण म.प्र. व खंडवा की सारी बड़ी हस्तियाँ उनका सम्मान करती थीं। खंडवा की सारी साहित्यिक सांस्कृतिक गतिविधियाँ उनके बिना सम्पन्न नहीं होती थीं पं. माखनलाल चतुर्वेदी के वे दाहिने हाथ थे। पूना से पधारे स्मृतिबिंब के संपादक मणिमोहन चवरे ने बताया कि 1958 में म.प्र. कालीदास अकादमी की स्थापना के साथ उज्जैन और भोपाल में जब भारतीय रंगमंच का खाका तलाशा और तराशा जा रहा था उसके 8-10 वर्ष पूर्व खंडवा में शिवकुमार चवरे अपने स्वयं लिखित व निर्देशित नाटकों के मंचन से निमाड़ में नाट्यकला की अलख जगा चुके थे।

पाल की कविता, रवीन्द्र के चित्र

जन संस्कृति मंच, दुर्ग-भिलाई इकाई द्वारा कवि बुद्धिलाल पाल के नये कविता संग्रह 'राजा की दुनिया' पर समीक्षा-गोष्ठी सम्पन्न हुई। अध्यक्षता प्रसिद्ध आलोचक अजय तिवारी ने की। बुद्धिलाल पाल ने अपनी चुनिंदा कविताओं का पाठ किया। कवि नासिर अहमद सिकंदर ने अपने आलेख-पाठ में बताया कि प्रस्तुत संग्रह की सभी कविताएं विषय-वस्तु के आपसी जुड़ाव के कारण सहज शिल्प में जनपक्षीय चेतना की एक लंबी कविता का एहसास कराती हैं। कविताएं राजनैतिक वैचारिक पक्षधरता के साथ सत्ता और व्यवस्था के चरित्र को खोलती है। संग्रह पर अपने विचार व्यक्त रकते हुए कवि बसंत त्रिपाठी ने कहा कि राजा की दुनिया प्रसिद्ध कविता 'मगध' और प्रार्थना के शिल्प में की कड़ी में है। आलोचक अजय तिवारी ने कहा कि श्रेष्ठ रचनाकार वही होता है जो वर्तमान व्यवस्था से असंतुष्टि दर्शाने के साथ ही काल्पनिक संसार की रचना भी करता है। संग्रह ''राजा की दुनिया'' की कविताओं में आत्मालोचना का स्वर है। कार्यक्रम स्थल पर देश के प्रतिष्ठित चित्रकार श्री के. रवीन्द्र के चित्रों की प्रदर्शनी भी आयोजित थी सभी कला पारखी दर्शकों ने इन भावपूर्ण चित्रों की भरपूर सराहना की।

भारतीय संस्कृति में मिली पश्चिमी सभ्यता

हिन्दी भवन (भोपाल) में म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा भारतीय लेखक राजीव मल्होत्रा की किताब 'विभिन्नता' का विमोचन किया गया। यह किताब मल्होत्रा की ही बहुचर्चित अंग्रेजी पुस्तक 'बीइंग डिफरेंट' का अनुवाद है। मल्होत्रा की इस किताब का अनुवाद वरिष्ठ साहित्यकार देवेन्द्र सिंह ने किया। यह पुस्तक भारतीय संस्कृति पर आधारित है। उनकी इस किताब में वैदिक संस्कृति की भी झलक देखने मिलती है। इस पुस्तक में भारतीय संस्कृति की तुलना पश्चिमी संस्कृति से की गई है। किस प्रकार भारतीय संस्कृति में पश्चिमी सभ्यताओं का मिलाप होता जा रहा है। साहित्य अकादमी के निदेशक प्रो. त्रिभुवननाथ शुक्ल, वरिष्ठ साहित्यकार रमेशचंद्र शाह और प्रो. शंकर शरण ने वक्तव्य दिया। संचालन जवाहर कर्नावट ने किया।

संगीता गुंदेचा का रचना पाठ

उज्जैन में भस्म से की जाती है भगवान शिव की आरती। कवि एवं कथाकार संगीता गुंदेचा ने इसी विषय पर आधारित रचना 'अभिषेक' का प्रभावी पाठ किया। अवसर था भोपाल की संस्था स्पंदन की ओर से स्वराज भवन में आयोजित रचना पाठ कार्यक्रम का। संगीता ने मैक्सिकन चित्रकार फ्रंदा कहलो पर केंद्रित कविता- ''आह, शाम की पीड़ा का यह सांवलापन, फ्रंदा कहलो मैं जीना चाहती हूँ, लेकिन मुझे यह नहीं पता कि जिया कैसे जाता है, जो चीज हमें जिंदा रखती है, वही हमें मारती है...'' का भावपूर्ण वाचन किया। अपनी दो कहानियां भी संगीता ने सुनाईं। 'निशानेबाज' जो कि महाभारत के प्रसंग पर आधारित थी और संस्कृत नाटक मिट्टी की गाड़ी और याज्ञवल्क्य-मैत्रयी संवाद पर आधारित 'अतिप्रश्न' थी संचालन उर्मिला शिरीष ने किया।

आज भी अपने हक से वंचित हैं स्त्री किरदार

थिएटर मेरे लिए जुनून नहीं, जीवन है। थिएटर ने मुझे सबक दिया कि दूर से सच को देखो और नजदीक से उसे अपनाओ। रंगमंच को जिलाए रखने तथा उसमें तरक्की के नए पहलू जोड़ने वाली भारतीय स्त्रियों के जज्बे और समर्पण की कहानियाँ सुनते हुए मैंने यही सबक सीखा।

भारतीय रंगमंच की सितारा शख्सियत उषा गांगुली इस उद्‌गार के साथ भोपाल में नवनिर्मित जनजातीय संग्रहालय में एक शाम पेश आयीं। मध्यप्रदेश के सांस्कृतिक अमले के आग्रह पर उन्होंने लगभग डेढ़ घण्टे शिरकत करते हुए देश के रंगमंचीय अतीत के साथ जुड़ी महिला कलाकारों के सपनों, संघर्षों और मान-अपमान का जिक्र करते हुए उनकी गौरवगाथा सुनाई। लगभग चार दशकों की वरिष्ठता में अभिनय, निर्देशन तथा नाट्य समूह रंगकर्मी के संचालन का व्यापक अनुभव समेटने वाली उषा गांगुली का यह 'रंग संवाद' एक अर्थ में स्त्री कलाकारों के जीवट और स्वाभिमान का ओजस्वी रेखांकन भी था। संगीत नाटक अकादेमी के

उषा - संवाद

से पन्द्रह साल पहले नवाजी जा चुकीं इस ख्यातनाम विदुषी ने अपने उद्‌बोधन से पूर्व जनजातीय जीवन और सांस्कृतिक सरोकारों से ताल्लुक रखने वाले मुखौटों पर आधारित प्रतिरूप प्रदर्शनी का उद्‌घाटन तथा अवलोकन किया। इस अवसर पर संस्कृति संचालक श्रीराम तिवारी, म.प्र. नाट्य विद्यालय के निदेशक संजय उपाध्याय, फिल्म समीक्षक सुनील मिश्र, जनजातीय संग्रहालय के कार्यक्रम अधिकारी अशोक मिश्र, पत्रिका 'रंग संवाद' के संपादक विनय उपाध्याय सहित प्रशिक्षु युवा रंगकर्मी उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन सिंधी साहित्य अकादेमी के निदेशक अशोक बुलानी ने किया।

अपने अनुभव सम्पन्न व्याख्यान की शुरुआत में उषाजी ने वैदिक काल से लेकर सामंतवादी दौर और आजादी के बाद नया रूप धारण करती रंगमंचीय स्त्री कलाकारों की दुनिया पर रौशनी डाली। उन्होंने कहा कि हम दो सौ सालों के रंगमंच की ऐतिहासिक चर्चा में अक्सर अपने जनपदों में उपेक्षा की मार झेलकर सक्रिय रहने वाली बेड़नियों, नौटंकी और नाचा में पूरी हुमस के साथ हिस्सा लेने वाली स्त्री कलाकारों को भूल जाते हैं। छत्तीसगढ़ की पंडवानी गायिका तीजन बाई, लोक गायिका सुरुज बाई खांडेकर, फिदा बाई, माला बाई के योगदान की चर्चा नहीं करते। बंगाल की विनोदिनी दासी के महान त्याग को भूल जाते हैं जिनके स्मारक को कोलकाता में ठीक से सहेजा न जा सका। जोहरा सहगल और विजया मेहता जैसी सैकड़ों बुजुर्ग स्त्रियों को वो हैसियत न दे सके जिसकी वे सच्ची हकदार हैं। उषा गांगुली ने कहा कि ये वे किरदार हैं जिन्होंने साधनों और सम्मानों की गरज न करते हुए विपरीत परिस्थितियों में भारतीय रंगमंच और उसकी परंपरा की रक्षा की। दुर्भाग्य से आज महिला रंगकर्मियों के नाम पर कोई मंच या सभागार नहीं है। ये पुरुषोचित समाज में समानता के अधिकार की अवहेलना नहीं तो क्या है? श्रीमती गांगुली ने पुरज़ोर वकालत की कि समाज के बिखरे पहलुओं को जोड़ने, जनजागरण की आवाज बुलंद करने, परंपरा के प्रवाह को कायम रखने और कलात्मक मनोरंजन से बिरादरी को सकारात्मक ऊर्जा देने वाली स्त्रियों के उत्सर्ग से नई पीढ़ी को अवगत कराना जरूरी है। उन्होंने कहा कि सिनेमा के आने के बाद आज थिएटर की स्थिति बदली है और महिला कलाकारों की उत्साही आमद ने भरोसा जगाया है।

उषाजी ने खुद के अनुभवों के हवाले से खुलासा किया कि मेरे लिए मेरी पूर्वज कलाकारों का त्याग और उनकी जिजीविषा बेशकीमती सबक हैं। मेरा मानना है कि शताब्दियों की यात्रा में भारतीय रंगमंच ने परिवर्तन की कई करवटें ली हैं लेकिन मनुष्यता के पक्ष में अपनी आवाज़ उठाने का मूल उद्देश्य कभी मंदा नहीं पड़ा। मेरे लिए थिएटर जुनून नहीं, जीवन है।

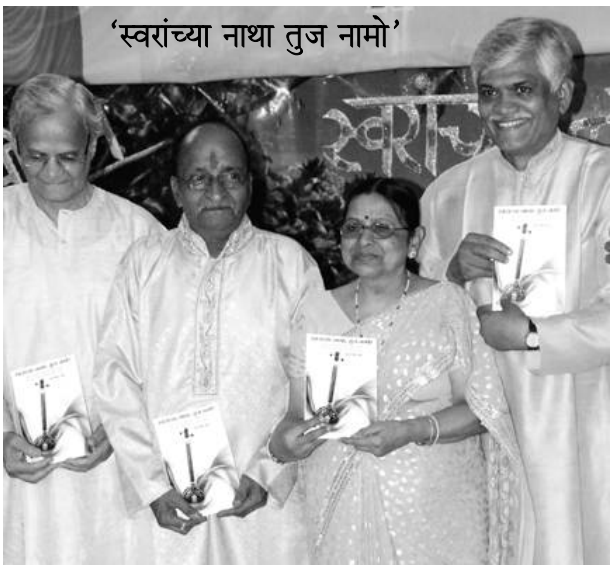

'हर पल है संगीत प्रभावी'

भोपाल के महाराष्ट्र मंडल की ओर से कला समीक्षक चंद्रशेखर मुंजे की पुस्तक 'स्वरांच्या नाथा तुज नामो' (हे स्वरों के देवता आपको नमन) का विमोचन किया गया। इस अवसर पर चंद्रशेखर मुंजे ने अपनी इस पुस्तक के कुछ अंश भी पढ़े। उन्होंने कहा कि मैंने अपनी इस पुस्तक के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया है कि खुशी हो या वेदना का वातावरण, उत्सवी माहौल हो या गंभीर क्षण, हर जगह संगीत की प्रभावी भूमिका रही है। मैंने अपनी इस पुस्तक में कुछ स्वर साधकों के विचारों को संकलित करने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में शामिल सभी कला उपासक स्वरों के नाथ हैं। पुस्तक आकाशवाणी में मेरे 29 साल के कार्यानुभव का निचोड़ है। अतिथि के रूप में ध्रुपद गायक पद्मश्री उमाकांत एवं रमाकांत गुंदेचा, वायलिन वादक रामभाऊ शेवलीकर एवं तबला वादक किरण देशपांडे तथा कला समीक्षक विनय उपाध्याय उपस्थित थे।

बावरा 'निमाड़ी' हुआ सम्मानित

ज़माना दौड़ का है, होड़ का है। वर्चस्व और रिझाने का है लेकिन इन तमाम आसक्तियों से परे गाँव के एक किसानी किरदार ने अपनी जनपदीय संस्कृति के बिखरे सूत्रों को सहेजने अपनी मेहनत को दाँव लगा दिया है।अपनी मिट्टी को प्यार करने वाले मिट्टी की लघुकाया के इस बाँवरे लोक साधक पर अपने काम का जुनून और अंचल का प्रेम इस कदर हावी है कि अपने मूल नाम के साथ हमेशा के लिए जोड़ लिया-निमाड़ी। मध्यप्रदेश के पश्चिम निमाड़ के इस ग्रामीण शोधार्थी की फितरत और प्रामाणिक कार्यों का पता जब सूबे के सांस्कृतिक अमले को चला तो इस निमाड़ी की पूछ परख बढ़ गई। उन्हें निमाड़ के गीतों, कहावतों, चित्रों तथा रंगमंचीय कलाओं के आसपास हो रहे दस्तावेजीकरण के काम में सहायक बनाया गया। सर्वेक्षण, संकलन और लेखन की दिशा में हाय स्कूल पास तोमर ने कदम बढ़ाया और अनेक महत्वपूर्ण प्रकल्पों के सहभागी बने। हाल ही मालवा लोक कला एवं संस्कृति संस्थान उज्जैन ने उन्हें 26वें भेराजी सम्मान से विभूषित किया।

निमाड़ अंचल के सुदूर इलाकों में रात-दिन भ्रमण कर बिखरी हुई लोक थाती को समेट कर श्री तोमर ने आधुनिक समाज को यह प्राचीन धरोहर सौंपी है। अंचल के प्रतिष्ठित लोक पर्व गणगौर को लेकर किए गए कला श्रृंगारित रथों के निर्माण एवं गणगौर गीतों के संकलन में उनकी विशेष पहचान कायम हुई है। बचपन में अपने गाँव दवाना में गीली मिट्टी से खेलने वाले बालक की कला परिष्कृत रूप में लोक संस्कृति का नयनाभिराम श्रृंगार करेगी इसकी कल्पना ग्रामवासियों को भी नहीं रही होगी। लोक की धरोहर को संग्रहित संकलित करने की उनकी बैचेनी उन्हें सुकून से बैठने नहीं देती। प्रदेश की प्रतिष्ठित लोक पत्रिका 'चौमासा' में पंद्रह से अधिक शोध प्रबंध लिखे जा रहे हैं। संत सिंगाजी के 1100 गीतों का वृहद संकलन शीघ्र प्रकाश्य है।

'समांतर' के पटल पर परसाई और जोशी के व्यंग्य

किसी भी रचना की सार्थकता उसकी सार्वकालिक प्रासंगिकता से आंकी जाती है। हिन्दी में हरिशंकर परसाई और शरद जोशी की सिद्ध लेखनी समय के अंतरालों को पार करती अपने मौजू होने की ताईद करती रही है। दिलचस्प यह कि साहित्य के परिसरों में बेहिसाब स्वीकृति और मान पाने वाले ये दोनों गद्यकार रंगकर्मियों को भी समान रूप से प्रिय रहे हैं। भोपाल के रंगपटल पर पिछले दिनों परसाई और जोशी के रचे दो कथानकों ने सुरुचि का ऐसा ही परिवेश रचा। अपनी अलस चेतना से जागे नाट्य समूह 'समांतर' की लंबी कार्यशाला के दौरान नौसीखिए कलाकारों को लेकर तैयार की गई दो जुदा प्रस्तुतियाँ हालांकि दो नामवर रचनाकारों की अनेक बार खेली जा चुकी कृतियों के साथ अपेक्षित न्याय नहीं कर पायी फिर भी इस उत्साही दस्तक को सुदूर भविष्य की शुभकामना के रूप में देखा जा सकता है।

'समांतर' द्वारा आयोजित नाट्य प्रशिक्षण कार्यशाला के अंतर्गत दो नाटक 'अंधों का हाथी' तथा 'रानी नागफनी की कहानी' का मंचन शहीद भवन में हुआ। वरिष्ठ रंगकर्मी मुकेश शर्मा के निर्देशन में नई पीढ़ी के नाट्य संस्कारों से जोड़ने की यह लगातार दूसरी पहल थी। इस बहाने एक नई पौध न सिर्फ नाट्य अभिनय बल्कि दीगर रंगमंचीय पहलुओं से भी वाबस्ता हुई। इसकी शिनाख्त एक हद तक इन नाट्य प्रस्तुतियों में दिखने को मिली।

वनमाली सृजन पीठ के सहयोग से पन्द्रह जून से तीस जुलाई तक चली इस कार्यशाला के समापन के बाद चार अगस्त को प्रख्यात् व्यंग्यकार शरद जोशी की कालजयी नाट्य कृति 'अंधों का हाथी' को

स्वयं मुकेश शर्मा ने अपने निर्देशकीय कौशल के साथ प्रस्तुत किया। राजनीतिक लम्पटता धूर्तता, प्रशासनिक अव्यवस्था शोषक और शोषण की मार्मिक पड़ताल करती इस प्रस्तुति में निश्चित ही नवोदित कलाकारों ने अपनी रंगमंचीय ऊर्जा को उजागर करने की पूरी चेष्टा की। ब्रजेश अनय की प्रकाशकीय कल्पना तथा प्रभातराज निगम की रूप सज्जा सार्थक रही। मंच पर विवेक भार्गव, धर्मदेव शुक्ला, आशीष त्रिवेदी, भूपेंद्र माहेश्वरी, विकास जैन, शालिनी गुप्ता सहित एक दर्जन से अधिक नवोदित अभिनेताओं ने उपस्थिति दर्ज करायी। रश्मि बाथरे ने नृत्य निर्देशन किया।

दूसरी शाम दर्शक हरिशंकर परसाई की व्यंग्य रचना 'रानी नागफनी की कहानी' के फलसफे से रूबरू हुए। सुरेश जरगर तथा बसंत काशीकर द्वारा नाट्य रूपांतरित इस प्रस्तुति का निर्देशन सुरेश जरगर ने किया। सूत्रधार रवि कुमार/रक्षा तंवर कथा सूत्रों को रंगमंचीय भाषानुसार बढ़ाते रहे अभिनेता पीयूष तिवारी, आलोक आनंद, रश्मि बाथरे, प्रेमा शर्मा, भगवती चरण, देवेंद्र रिकले, शैशव भटनागर विकास शर्मा, मुक्ता वंदानी, वंदना बहल 'अखिलेश वर्मा, अर्जित सिंह शुभम उपाध्याय, शैलेंद्र सिंह तोमर व गौतम इंगोले ने विभिन्न किरदारों से आत्मीय रिश्ता बनाने की कोशिश की। नेपथ्य से अभय सोहले तथा सुरेश जरगर व आशुतोष मिश्रा का रंगसंगीत प्रभावित करता रहा।

बेशक नाट्य समीक्षकों को प्रस्तुतियों का कच्चा पक्ष काफी अखरने वाला लगा किन्तु इन नवोदित कलाकारों का उत्साह देखने लायक था। एक विश्वास तो पनपता है कि भविष्य में ये कलाकार कुछ बेहतर करेंगे। **-वसंत सकरगाए**

समांतर की कार्यशाला

बिना जिज्ञासा और संवेदना के रंगमंच की कार्यवाहियों को सही सन्दर्भों के साथ नहीं समझा जा सकता। ज्ञान और ध्यान से ही पैनी होती है समीक्षक की निगाह। 'रंग संवाद' के संपादक विनय उपाध्याय का मानना है कि नाटक जैसी समग्र कलाओं की प्रस्तुति का आकलन एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। रंग समूह 'समान्तर' द्वारा हिन्दी साहित्य सम्मेलन भवन भोपाल में आयोजित नाट्य कार्याला में प्रतिभागियों के बीच अपने अनुभव साझा करते हुए उपाध्याय ने शास्त्र और लोक परंपरा से जुड़े रंगमंच तथा आधुनिक प्रयोगों के साथ बदलती कला शैली की सोदाहरण व्याख्या की। उन्होंने कहा कि एक बेहतर समीक्षक को नाटक की सामाजिक उपयोगिता को समकालीनता के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। उसे पूर्वाग्रह से मुक्त होकर प्रस्तुति का सम्यक विश्लेषण करना चाहिये। लगभग सवा घंटे के इस महत्वपूर्ण संवाद के दौरान प्रतिभागियों ने कई सवाल किये, जिनका समाधान श्री उपाध्याय ने किया। इस अवसर पर समान्तर के संयोजक-रंगकर्मी मुकेश वर्मा और साहित्यकार रामप्रकाश त्रिपाठी ने भी समीक्षा से जुड़े मुद्दों पर चर्चा की। संयोजक के अनुसार शिविर के दौरान सिनेमा और रंगमंच के मशहूर अभिनेता राजीव वर्मा और रीटा वर्मा ने भी प्रतिभागियों के बीच शिरकत करते हुए अपनी अभिनय यात्रा के रोचक पड़ावों पर प्रकाश डाला और बहुत से संवेदनशील मुद्दों की चर्चा की। वरिष्ठ भरतनाट्यम नृत्यांगना लता मुंशी ने अभिनय में भाव-मुद्राओं की गहराई के पहलुओं से अवगत कराया और कला समीक्षक श्याम मुंशी ने संवाद शैली पर अपने विचार साझा किए। आकाशवाणी में कार्यरत राजेश भट्ट ने रेडियो एकांकी के तकनीकी पक्षों पर मार्गदर्शन किया।

जीवन का 'अंतर्द्वंद्व'

समाज और आसपास के लोगों के ताने..., जीवन में आते उतार-चढ़ाव और घर की माली हालत का तकाजा...। जीवन के इन्हीं रंगों और परिस्थितियों से रूबरू कराता है नाटक 'अंतर्द्वंद्व'। मंचन भोपाल के शहीद भवन में आकार सोशियो कल्चर सोसायटी के कलाकारों ने किया।

सुनील सिंह के लेखन, निर्देशन और परिकल्पना में मंचित इस नाटक में मानव जीवन का अंतर्द्वंद्व प्रस्तुत किया गया। नाटक 'अंतर्द्वंद्व' हर आम आदमी के जीवन से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। ऐसे कई मोड़ आते हैं जो अमूमन हर व्यक्ति के जीवन में घटित होते हैं। नाटक दिखाता है कि जब आप असफलताओं से घिरे होते हैं, तब आसपास के लोगों का बर्ताव किस प्रकार का हो परिवर्तित होता है। नाटक में अजय, प्रमिला, रश्मि, निर्मल, मिथुन, दर्वेश एवं नीतू ने अभिनय किया। हिन्दी रंगमंच पर सुनील की आमद हालांकि नई-नई है लेकिन

वे रंगमंच के तकनीकी संज्ञान और उसकी पारंपरिक पहचान से बखूबी जुड़कर प्रस्तुति के साथ न्याय करते नज़र आते हैं। उनमें सीखने-समझने का माद्दा दिखाई देता है जो उन्हें एक सुदूर सुनहरा भविष्य दे सकता है। अंतर्द्वंद्व का यह मंचन तो यही साबित करता है।

कवि-सम्मान

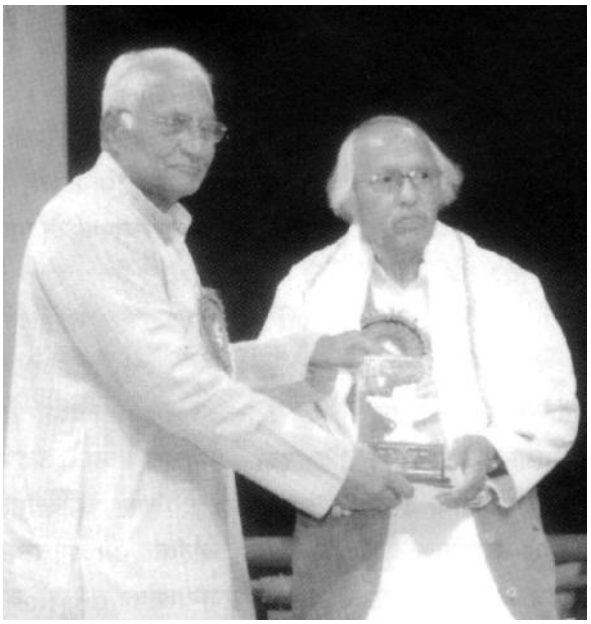

हिन्दी के यशस्वी कवि चंद्रकांत देवताले को दिल्ली में आयोजित एक गरिमामय समारोह में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। मध्यप्रदेश के बैतूल जिले के गाँव जौलखेड़ा में जन्मे देवताले प्राध्यापकीय सेवाओं से मुक्त होने के बाद उज्जैन-इंदौर में रहते हुए स्वतंत्र लेखन में संलग्न हैं।

जीवन में झाँकती अमरकांत की कहानियाँ

नाटक में नई सोच समझ का पैरोकार भोपाल का कला समूह रंग विदूषक एक बार फिर कहानी के करीब आया। भारत भवन की अंतरंग शाला में आधुनिक हिन्दी कहानी के उज्जवल हस्ताक्षर अमरकांत की दो चर्चित कथाएँ 'ज़िंदगी और जोक' और 'डिप्टी कलेक्टरी' का चयन करते हुए जाने-माने रंगकर्मी बंसी कौल ने अपनी निर्देशकीय निगाह से कुछ नए प्रयोग मूर्त किए। मंचन के लिए पटकथा तैयार की प्रसिद्ध कथाकार-कवि और नाटककार राजेश जोशी ने। निश्चय ही लेखक के मूल पाठ से इतर रंगमंच की चौखट तक कहानी का प्रदर्शन के लिए पुनर्सृजन करना तकनीकी समझ और रचनात्मक संवेदना से ही मुमकिन है। और राजेश के पास यह कौशल लम्बे अनुभव से पर्याप्त संचित है। 26 जुलाई की शाम खेली गई ये दोनों कहानियाँ एक अर्थ में अमरकांत जैसे मूर्धन्य कथाकार के रचनागत अनुभव में प्रवेश करते हुए हमारे समय के सामाजिक उद्वेलन को भी उजागर करती हैं। रंग विदूषक के कलाकारों ने यथासंभव कहानी के किरदारों से आपसदारी बनाई और प्रस्तुति को समग्रता में एक बेहतर रूपक देने की पहल की। इस तारतम्य में उदय शहाणे, संजय श्रीवास्तव, हर्ष दौण्ड, नीति श्रीवास्तव, अश्विन सिंह, अमन रहमान, अंजलि भारद्वाज, रिदा बज़मी, घनश्याम गुर्जर, अरुण वर्मा के अभिनय को याद किया जा सकता है।

कहानी 'डिप्टी कलेक्टरी' का परिवेश पारिवारिक है, परन्तु नेहरू युग के स्वप्न और महत्वाकांक्षाओं का ही एक रूपक है। जबकि 'जिंदगी और जोंक' अमरकान्त की एक और चर्चित कहानी है। नई कहानी आन्दोलन के दौर में इस कहानी पर महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ की गईं। वस्तुतः यह अलगाव और जिजिविषा के द्वन्द की कहानी है। एक भिखमंगा, परजीवी चरित्र, कहानी के केन्द्र में है जो अपने गाँव की विषम आर्थिक परिस्थिति से उखड़ कर शहर के एक मोहल्ले में अपना डेरा डाल लेता है। मुश्किल है कहना कि जीवन के प्रति आस्था की कहानी है या जुगुप्सा, आस्थाहीनता और डिसगस्ट की। आर्थिक अभाव के कारण कोई व्यक्ति कितना टूट जाता है इसे इस कथा के मुख्य पात्र 'रजुआ' के माध्यम से जाना जा सकता है।

रंग विदूषक की पेशकश

बकौल निर्देशक एक विधा में लिखी गई रचना को जब प्रदर्शनकारी कला में प्रस्तुत करने का उपक्रम होता है तो विभिन्न प्रसंगों और स्थितियों के बीच के अवकाश को भरने और उसके बीच सेतु बनाने के लिये कुछ रंगमंचीय प्रविधियों का उपयोग आवश्यक होता है। हमने कुछ जगहों पर गीतों का प्रयोग किया है और कहीं-कहीं कुछ संवाद, पात्र एव दृश्य भी जोड़े हैं। लगता है कि नई कहानी के सबसे समर्थ और महत्वपूर्ण अमरकान्त की कहानियों की यह रंगप्रस्तुति, कहानी और रंगकर्म के बीच एक नये रिश्ते की प्रस्तावना है।

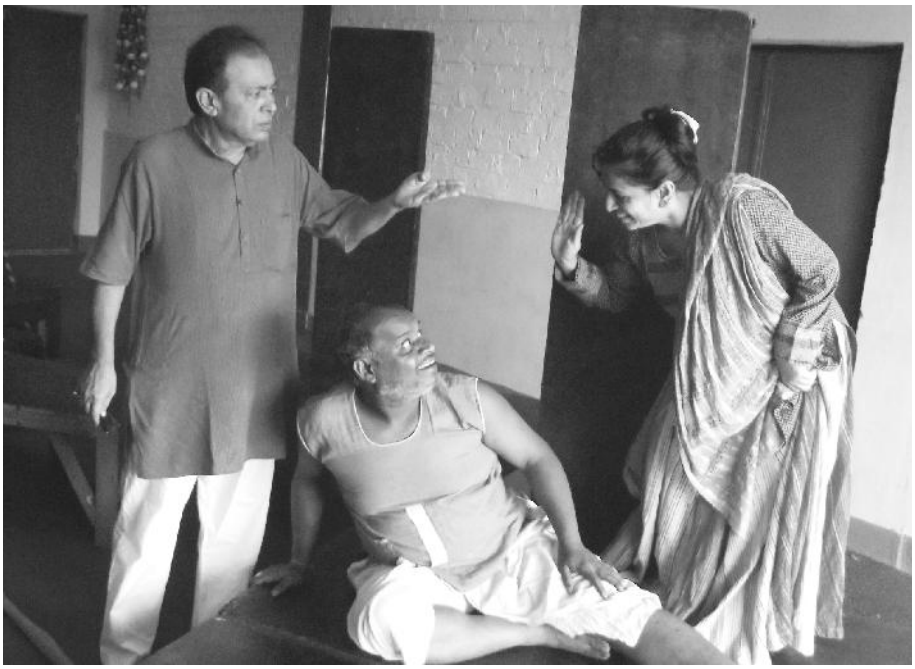

पाठक संवाद

'रंग संवाद' के अंक देखता रहा हूँ। हर अंक ने मुझे प्रभावित किया है। कमलेश दत्त त्रिपाठी ने उत्तर आधुनिक मंच प्रयोग की चुनौती का बहुत ही सूक्ष्मता से विवेचन किया है। यह संतोष चौबे के संपादकीय में उठाये सरोकारों को परिपार्श्व प्रदान करता है। शांतिवर्धन पर रामप्रकाश का लेख रंग परंपरा के प्रतिबद्ध पुरुषों की पंक्ति याद दिलाता है। 'अब वे फकीर नहीं आते' अजातशत्रु का एक मार्मिक लेख है जो बदलते समय के निष्ठुर आघातों की चीख को उभारता है। कथा मंजूषा और ग्वालों की कला, लोक कला रूपों के क्षरण पर चिंता जताने वाले प्रसंग हैं। यही असल रंग संवाद है। मेरा मानना है कि संस्कृति के क्षेत्र में परिष्करण और उन्नयन की हस्तक्षेपकारी आवश्यकता है।

-राजाराम भादू, जयपुर (राजस्थान)

●●●

साहित्य, संस्कृति और सृजन के साथ-साथ चिंतन-मनन के लिए प्रेरित करती है 'रंग संवाद'। पत्रिका इतनी सुरुचिपूर्ण है कि कोई कोना मुझसे अछूता नहीं रहता। सही अर्थों में यह रंगमंच और दीगर कलाओं का दस्तावेज़ है।

-प्रो. मणि खेड़ेकर, अकोला (महाराष्ट्र)

●●●

कलाओं के अंतर्संबंधों को जीती यह रचनात्मक सर्जनात्मक अभिव्यक्ति हर बार अपनी भंगिमा से अभिभूत कर जाती है। एक साथ कई आवाजों को अपने आसपास ही नहीं भीतर तक सुन पाते हैं जिनमें जीवन-जगत का सच्चा-खरा संगीत गुन-गुन करता है।

-यश मालवीय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

●●●

उत्तरोत्तर निखार और रचना की दृष्टि से नई समृद्धि का उदाहरण बनती जा रही है 'रंग संवाद'। अच्छा लगा जानकर कि हमारी इस प्रिय पत्रिका को विद्यानिवास मिश्र पुरस्कार से सम्मानित किया गया। बेशक यह उपलब्धि संपादकीय श्रम की है।

-मनमोहन सरल, बान्द्रा पूर्व (मुंबई)

●●●

कुल जमा अड़सठ पृष्ठों में फैला कला और विचार का रंग-बिरंगा संसार हमारे भीतर कितने आसमान खोल देता है। इस पत्रिका को एक बार भारत भवन के पुस्तकालय में देखा था। शुक्रिया कि मेरे निवेदन पर आपने इसे नियमित भेजना शुरू कर दिया। संतोषजी के संपादकीय का आखिरी हिस्सा नई पीढ़ी ही नहीं, हम सबके लिए संदेश है- ''एक ऐसे आधुनिकता बोध से युक्त चेतना की तरफ लौटना है जो अपनी परंपरा को जानती है, विविधता तथा बहुलता का सम्मान करती है तथा पूरे विश्व को एक बाजार बनने से बचाती है''। मुझे लगता है कि अब हम सबके भीतर कसमसाहट अंगड़ाई ले रही है और आधुनिकता के नाम पर हमारे पैरों के नीचे से गायब हो रही हमारी बुनियादी पहचान के निशानों को बचा लेने की जुगत हमें ज़रूरी लग रही है। मनोज श्रीवास्तव भी तो अपने आलेख में इसी चिंता से भरे हैं। रंगकर्मियों के लिए तो यह मंच कई महत्वपूर्ण पाठों की सौगात लिए हैं। अलखनंदन और बसंत काशीकर तथा बदरुल इस्लाम के क्या खूब साक्षात्कार हैं। तीनों बेबाक हैं अपनी अपनी तरह से। विनयजी ने शेष-विशेष में आज की रंग-टोलियों के अगंभीर होते जाने का जो संकेत किया है, उसके लिए अकेले जिम्मेदार कलाकार ही नहीं हैं, अनुदान देने वाली सरकार, प्रायोजक और दर्शक भी उत्तरदायी हैं। ओम भारती की कविताएँ इस अंक को नया जायका देती हैं। सांस्कृतिक खबरें इतनी सारी देखकर अच्छा लगा।

-उत्तरा देशपाण्डे, लखनऊ (उ.प्र.)

●●●

यह अंक रंग-बिरंगे लेखों से भरी पिचकारी से उल्लास के सराबोर कर गया। इन रंगों की महक अभी तक है। अगले अंक के आते-आते और बढ़ जायेगी। 'रंग संवाद' में सृजित लेखों में पाठ चयन की दुविधा मुझे बनी रहती है। यह आपके संपादन का कमाल है। पारखी नज़र से कोई भी चीज़ छूटती नहीं है।

रंगमंच और सिनेमा पर आधारित लेख तुलनात्मक रूप से समालोचकों को विचार करने का अवसर देता है। चूंकि नाटक हमेशा जीवंत रहते हैं, वे इतिहास के पन्ने को खोकर भी हमेशा जीवित रहते हैं क्योंकि उनका दर्शकों से हमेशा आमने-सामने संपर्क बना रहता है। वह दर्शकों की प्रतिक्रिया को भी सुन सकता है और अच्छी बुरी प्रतिक्रिया को सुनकर भविष्य सुधार सकता है। सिनेमा में यह अवसर हमेशा के लिए खोकर फ्रीज हो जाता है। सिनेमा एक बार रस देकर अपना महत्व खो देता है। नाटक नहीं।

-जनार्दन बी. जोशी, भोपाल (म.प्र.)

●●●

स्तर का काम पहली नज़र में ही लुभा लेता है। आवरण से लेकर भीतर के हर पृष्ठ को संपादक की प्रतिभा ने जिस तरह सींचा है, उसे देखकर आपको साधुवाद देने का मन करता है।

-राजेन्द्र परिहार, भोपाल (म.प्र.)

राजीव वर्मा (भोपाल), जयंत देशमुख (मुंबई), के.रवीन्द्र, जयप्रकाश मानस (रायपुर), ललित नारायण उपाध्याय, गोविंद शर्मा, शरद जैन (खंडवा), केदार जैन (ग्वालियर), आशा सिंह, सुदीप सोहनी (मुंबई), लोकेंद्र शास्त्री, स्वाति उखले (उज्जैन) की प्रतिक्रियाएँ भी प्राप्त।

नागेश का 'रुपाभ'

अमूर्तन का आग्रह लिए इस युवा कलाकार ने चित्रकला की चौखट पर आमद की है लेकिन सधे कदमों के साथ। वे लकीरों और रंगों के अतिरेक से बचते रहे हैं। दुरुह, दूभर और अर्थहीन संयोजन से उनकी दूरी है और हड़बड़ी तथा हल्लाबोल उनकी प्राथमिकता नहीं है। ऊल-जुलूल प्रयोगों के सतही चमत्कारों के साथ न तो वे गॉडफादरों के कंधों पर बैठकर कला के बाजार से समीकरण बनाना चाहते हैं और न ही कला की कथित राजनीति से गठजोड़ कर रातों-रात शोहरत का आसमान नापने की कोई लिप्सा फिलहाल उन पर हावी है। लेकिन वे इस भरोसे से भरे नज़र आते हैं कि उनकी सच्ची और खरी रचनात्मकता अनदेखी की शिकार नहीं होगी।

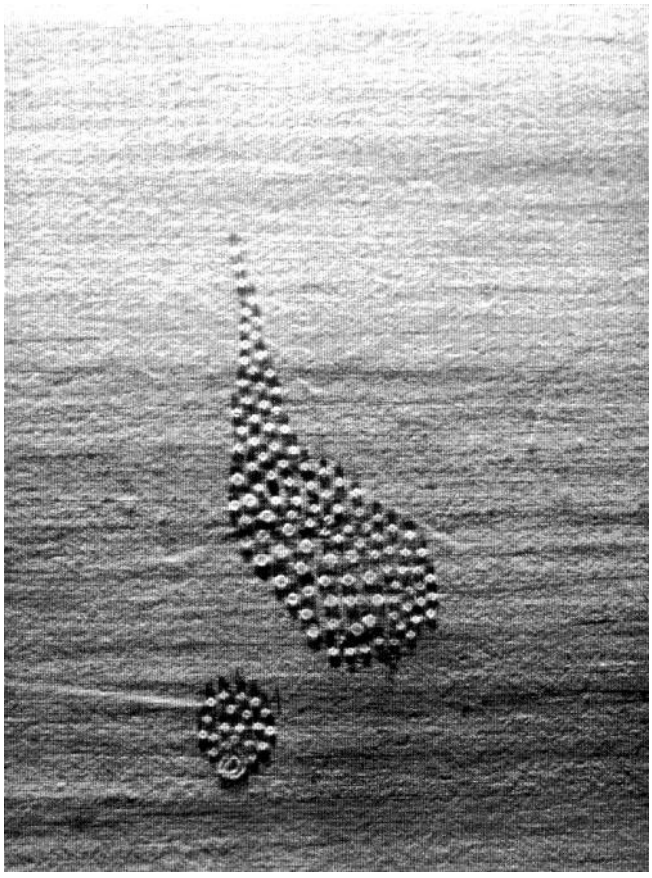

नागेश की एक चित्रकृति

शेष विशेष

विनय उपाध्याय

खिलाफ मौसम के अगर जीवन की डाल पर इरादों के फूल इठलाने लगें तो यकीनन कोई ज़िद जड़-जमीन से अपने लिए ज़रूर नमीं सींच लाई होगी। अभिव्यक्ति की राह थामने वाले बावरे चितेरों की फितरत कुछ ऐसी ही होती है। मिसाल नागेश शर्मा की ली जा सकती है। इंदौर के रहवासी इस चित्रकार को कला के रंग कुछ ऐसे रास आए कि उनकी सोहबत में ही अब ज़िंदगी गुजारना उन्हें गवारा है। पैंतालीस की उमर में अपनी छोटी मध्यवर्गीय गृहस्थी की जिम्मेवारियों को सम्हालते हुए वे जिस आत्मविश्वास और तल्लीनता से केनवास पर रूपहली दुनिया रच रहे हैं, उसमें उनकी काबिलियत के हस्ताक्षर साफ पढ़े जा सकते हैं। बकौल उन्हीं के- राहें आसान तो नहीं रहीं। एक धुंधलका शुरु में मेरे सपनों को घेरता रहा लेकिन ख्वाहिशों के रंगों का रिश्ता जब मन की सच्ची लगन से जुड़ गया तो, रौशनी कहीं आसपास नजर आने लगी। जीवन की गुत्थियों को रंग-रूपाकारों में खामोशी से दर्ज़ करने का सिलसिला अब मेरा मकसद बन गया है।

नागेश की इसी धुन और जद्दोजहद की नुमाइंदगी पिछले दिनों भोपाल के भारत भवन में हुई। मौका मिला उन्हें प्रदर्शनी श्रृंखला 'रूपाभ' में शिरकत का और इस उत्साही परिवेश में उनकी विनम्र उपस्थिति को कलारसिकों ने भरपूर तवज्जो दी। अमूर्तन का आग्रह लिए नागेश ने चित्रकला की चौखट पर आमद की है लेकिन सधे कदमों के साथ। वे लकीरों और रंगों के अतिरेक से बचते रहे हैं। दुरुह दूभर और अर्थहीन संयोजन से उनकी दूरी है और हड़बड़ी तथा हल्लाबोल उनकी प्राथमिकता नहीं है। ऊल-जुलूल प्रयोगों के सतही चमत्कारों के साथ न तो वे गॉडफादरों के कंधों पर बैठकर कला के बाजार से समीकरण बनाना चाहते हैं और न ही कला की कथित राजनीति से गठजोड़ कर रातों-रात शोहरत का आसमान नापने की कोई लिप्सा फिलहाल उन पर हावी है। लेकिन वे इस भरोसे से भरे-भरे नजर आते हैं कि उनकी सच्ची और खरी रचनात्मकता अनदेखी की शिकार नहीं होगी। उनके सृजन को रुचि और रसिकता से भरे कलाप्रेमी मिलते रहें और मिलें। प्रदर्शन पर पूर्वाग्रह के ग्रहण न लगें।

'रूपाभ' के गलियारे में नागेश और उनके हुनर से पहली बार मुतासिर होने का मौका आया।

अमूर्तन का अनूठा चितेरा : नागेश शर्मा

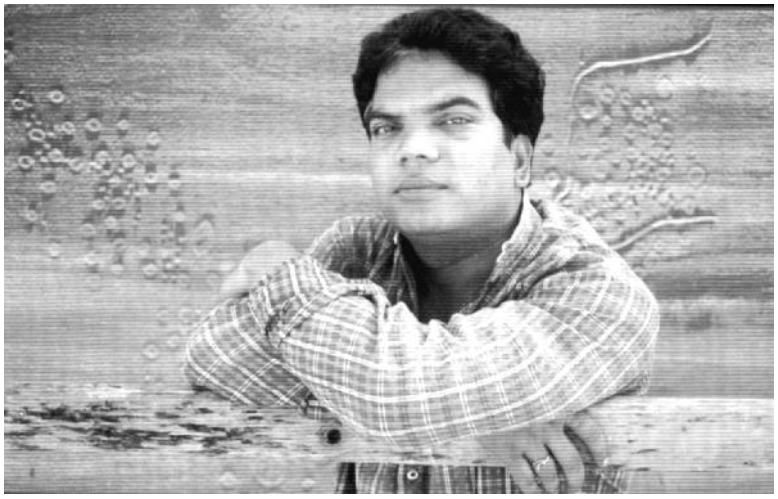

एक झलक में वे कुछ खामोश और संकोची दिखाई दिए लेकिन दीवार पर टंगी उनकी कलकृतियों से ध्यान लगाया तो रंग और आकार अंतरंग में उतरते चले गए। मुखमंडल पर तैरती नागेश की खामोशियों के रहस्य खुलते चले गये। जैसे सुरों की मानिंद रंगों के धीर-गंभीर आलापों में उनके मन का संगीत मुखर होता गया। लाल, नीले, सुनहरी और बादामी रंगों के गाढ़े-हल्के उभार कुछ ऐसी अनुरागी संगतों के साथ चस्पा हैं कि ठिठक कर निहारो तो हमारे अहसासों के रंग नागेश के केनवास पर उड़ते दिखाई देते हैं। जिसे अमूर्तन कहकर अक्सर उथली संवेदनाओं के लोग फासला कर लेते हैं, वही निराकार कलाकृति किसी राग की बंदिश में डूबने उतराने की तरह हमारी आत्मा में अनुभूति का अनहद जगा देती है। नागेश बहुत गुपचुप यह रहस्य खोलते चलते हैं कि स्वरों की तरह रंग भी ध्यान की वस्तु हैं।

‘उनके चित्र अनवरत यात्रा हैं। वे अपनी सीमाओं और अपनी क्षमताओं को तौलते, समझते आस्था के चित्र बनाते हैं। रंगों की तासीर, उनके प्रभाव से अपना चित्र संसार रचते हैं। अनुभव की तीव्रता खोजते हैं और हर बार निष्फल रहे जाते हैं। यह अनुभूति से फिसल जाना ही अगली बार रंगों की सोहबत के लिए प्रेरित करता है।’

जैसा कि मैं कह चुका हूँ, यह युवा चितेरा अपनी कलाकृतियों में प्रश्नाकुल है, बेचैन है और अपने भीतरी इज़हार के हाथ रुपहली भंगिमाओं को रच रहा है। नागेश की इस छटपटाहट को भाँपते हुए उनकी कला के प्रशंसक वरिष्ठ चित्रकार अखिलेश रेखांकित करते हैं कि नागेश सिर्फ चित्र नहीं बनाते बल्कि उनसे लगातार प्रश्न भी करते हैं। उनके चित्र अनवरत यात्रा हैं। वे अपनी सीमाओं और अपनी क्षमताओं को तौलते, समझते आस्था के चित्र बनाते हैं। रंगों की तासीर, उनके प्रभाव से अपना चित्र संसार रचते हैं। अनुभव की तीव्रता खोजते हैं और हर बार निष्फल रहे जाते हैं। यह अनुभूति से फिसल जाना ही अगली बार रंगों की सोहबत के लिए प्रेरित करता है। बहरहाल, अपने अंतस को सिरजने वाला यह रंग-सारथी अपनी स्थापना और स्वीकार के संघर्ष के साथ दिल्ली, हैदराबाद, मुंबई, कोलकाता और अपने सूबे के शहरों की वीथियों में आवा-जाही करता रहा है। उसकी पहचान सिर उठाने लगी है। उसकी धुन को रूचने वाले रंग, औरों की चाहत में शुमार होने लगे हैं, जाहिर है कि दर्शक बिरादरी के इस बढ़ते रुझान को नागेश की उस ताकत से जोड़कर देखना चाहिए जो चुप्पी की चादर ओढ़कर अपनी भीतर की आँच बचाए हुए है। आमीन...

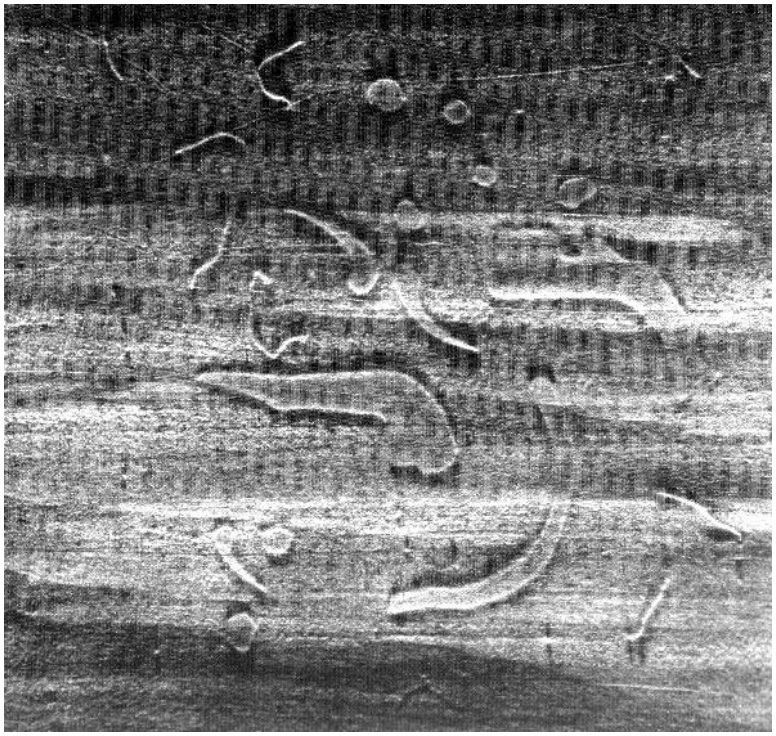

चौखट में चेहरे

ये सच है कि कला कभी भी विशेष घटनाओं की प्रवक्ता बनकर नहीं रहती। वह घटनाओं के तल से कुछ अनुभव चुनकर हमारे सामने रखती है। वह नए समय को धकियाती नहीं बल्कि पुराने और नए के बीच एक रचनात्मक संधि करती आने वाले कल के लिए विरासत बन जाती है। श्रीकांत आप्टे के कोलाज देखकर कला और समय की इसी जुगलबंदी का अहसास होने लगता है। चितेरों की बस्ती भोपाल में श्रीकांत अपने हुनर की प्रसिद्धि और प्रज्ञापन की अतिरिक्त महत्वाकांक्षओं से परे गुपचुप सिरजने में भरोसा करते रहे हैं। ऐसा नहीं कि उनकी चित्रकृतियाँ कला दीर्घाओं तक नहीं पहुँचीं पर वे कला के बाजार और प्रदर्शन की तिकड़मों से फासला करते आए हैं। शायद इसलिए कि वे मूलतः व्यंग्य लेखक हैं और लेखकीय स्वाभिमान उनकी कला की राह में यदा-कदा आड़े भी आता हो।

बहरहाल इन दिनों श्रीकांत भारत की कुछ उन विभूतियों के चेहरों को अपनी फ्रेम में चस्पा करने में मशगूल हैं जिनका योगदान महान विरासत की तरह देश-दुनिया में स्वीकार रहा है। इस फेहरिस्त में स्वप्नदर्शी नाटककार हबीब तनवीर भी हो सकेत हैं और मासूम-मखमली आवाज के धनी पार्श्व गायक हेमंत कुमार भी। भारतीय चित्रकला के आधुनिक पुरोधा राजा रवि वर्मा का मुखमंडल किसी चौखट में नुमाया हो सकता है तो, एक भारतीय आत्मा माखनलाल चतुर्वेदी की भावभरी मुद्रा भी किसी कालेज में सजीव होती हमें हेर सकती है। निश्चय ही कागजों के रंग-बिरंगे अरण्य में चेहरों के माफिक चिंदियों की पहचान आसान नहीं, लेकिन सृजन में अपने अभीष्ट को पाने की बेचैनी आप्टे जैसे जिद्दी कलाकारों को सारे खटरमों के लिए खड़ा कर देती है। फिर टुकड़ा-टुकड़ा कागजों की संगत करीने से जो सिरजती है, वह एक नायाब कृति बन जाती है। यह सब सिर्फ कतरनों का उथला व्यापार नहीं है, एक गंभीर सृजन है जहाँ किसी शख्सियत के नैन-नक्श निहारते हुए उसकी जिंदगी के धूप-छाँही रंगों का खामोश संगीत भी सुना जा सकता है। बहुतों को याद होगा, करीब पाँच बरस पहले श्रीकांत ने स्वाधीनता संग्राम के इतिहास को दर्जनों कोलाज कृतियों में रुपायित किया था। ये सुंदर और अनूठी बनगियाँ कई दिनों तक उनके घर की चौखट तक ही सीमित रहीं। जब इस काम की खबर नके चाहने वालों को मिली तो संग्राम की स्मृतियाँ उन्हें कोलाजों में कौंधती नजर आईं। संभवतः वे पहले और अकेले कलाकार हैं जिन्होंने आजादी के अतीत को कतरनों में खोज कर कला की चौखट में जड़ लिया। ये कोलाज भारत भवन में हुए समारोह 'संग्राम और सृजन' की नुमाइश का हिस्सा बने।

श्रीकांत कहते हैं- हर व्यक्ति का चीजों को देखने-परखने और अभिव्यक्त करने का अपना तरीका होता है। मेरे लिए अभिव्यक्ति जीवन की अनिवार्यता है। जो कुछ देखूँ-समझूँ और जानूँ उसे शब्दों या रंगों द्वारा व्यक्त कर सकूँ। अभिव्यक्ति की यह छटपटाहट मुझे निरंतर प्रयोगशील रखती है। व्यंग्य लिखने से लेकर क्रेयॉन, वॉटर कलर, पोस्टर कलर, ऑयल कलर से लेकर कोलॉज तक प्रयोगधर्मिता मेरी फितरत रही है। यही वजह है कि सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम को जब चित्रों में अभिव्यक्त करने का विचार आया तो मैंने कोलाज जैसी कम लोकप्रिय और साथ ही कलापारियों द्वारा दोयम दर्जे की समझी जाने वाली लगभग उपेक्षित विधा का चुनाव किया। मेरे लिए दूसरों की स्वीकृति-अस्वीकृति से अधिक महत्वपूर्ण मेरी रचनात्मक संतुष्टि है। आज तक कितने ही कलाकारों द्वारा कितनी ही बार और न जाने कितने तरीकों से स्वतंत्रता संग्राम की कलात्मक प्रस्तुति हुई है, पर मैं कुछ नया तलाश रहा था। बंधी-बंधाई लीक पर चलने से कहीं ज्यादा आवश्यक था कि जो मन-मस्तिष्क में है वह यथावत् व्यक्त हो सके। मेरे मन ने कभी प्रचलित बंधन स्वीकार नहीं किए। कोलाजिस्ट, कार्टूनिस्ट जैसी सीमाएँ मेरे मन ने कभी नहीं मानीं। अगर किसी विचार को कार्टून के रूप में बेहतर तरीके से व्यक्त किया जा सकता है तो मैं उस पर पूरा व्यंग्य लिखने से कार्टून बनाना पसंद करूँगा। यही वजह है कि चित्रकला की अन्य विधाओं पर पकड़ होते हुए भी मैंने कोलाज बनाने का नर्णिय लिया। मैं कई दिनों से इस विधा पर काम कर रहा था और मुझे इस माध्यम में अब अनंत संभावनाएँ नजर आ रही थीं। पारंपरिक अर्थों में किए जाने वाले कोलाज से हटकर मैं एक नया रूप विकसित कर चुका था। मेरा प्रयास था कि मैं अपने चित्रों में पेंटिंग क्वालिटी एवं प्रभाव उत्पन्न कर सकूँ। पहली नजर में तो ये चित्र पेंटिंग ही नजर आते हैं। स्वतंत्रता सेनानियों के पोर्ट्रेट हों या समर भूमि में जूझती लक्ष्मीबाई अथवा बियावान जंगल में फाँसी पर लटके सेनानियों का भय और आतंक को दर्शाता चित्र, सभी रंगीन कागजों को इस्तेमाल करके बनाए गए हैं। रंग की एक बूँद और बिना ब्रश के स्पर्श के।

निश्चय ही कागज़ों के रंग-बिरंगे अरण्य में चेहरों के माफिक चिंदियों की पहचान आसान नहीं, लेकिन सृजन में अपने अभीष्ट को पाने की बेचैनी आप्टे जैसे जिद्दी कलाकारों को सारे खटरमों के लिए खड़ा कर देती है।